[illegible]श्वर का यह ताजा उपन्यास आजादी के सपने पूरा न होने की मार्मिक कहानी है। महात्मा गांधी ने जो आदर्श सामने रखे थे, और जिनके लिए अनगिन व्यक्तियों ने अपने जीवन तथा सुख सुविधाओं का बलिदान किया, वे स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद न जाने कहां लुप्त हो गये, और जो व्यक्ति इनको लेकर चले थे, उनका जीवन भी नष्ट-भ्रष्ट होकर मानो एक हाहाकार करता रेगिस्तान बन गया ...इस सबके प्रतीक रूप विश्वनाथ की यह कथा एक गहरी टीस मन में छोड़ जाती है।

उपन्यास छोटा होते हुए भी बहुत कुछ कहता है और भविष्य के प्रति एक प्रश्न-चिह्न छोड़ जाता है।

कमलेश्वर

1

गर्मी के मारे विश्वनाथ की हालत खराब थी। नहर के पुल के पास बरगद और नीम के छतनार पेड़ तो थे, पर पुल अभी दो मील से ज्यादा दूर था। इस रास्ते से जाने वालों के लिए नहर का पुल ही सुस्ताने की जगह थी। मोटर वाले भी वहां ज़रूर रुकते थे। ट्रक, इक्के और बैलगाडियां भी। साइकिल वाले भी। ऊंटों या गदहों पर सामान ले जाने वाले अपने जानवर खोलकर वहीं छायादार पेड़ों के नीचे झपकी ले लेते थे।

नहर का पुल पूरे तपते-झुलसते इलाके का नखलिस्तान है। डामर की सडक पुल की पीठ से होती गुज़रती है और वहीं पुल के इर्द-गिर्द से गांवों को जाने वाली पगडण्डियां कटती हैं। सात कोस की सपाट सड़क पर यही एक ठण्डी जगह है। हर तरफ को जाता मुसाफिर यहां रुककर सांस ले लेता है। जहां तक डामर की सड़क पर छांह है, वहां तक तो काला डामर नहीं पिघलता, पर उसके बाद दोनों ओर सडक पिचक गई है…उस पर ट्रकों, इक्कों और गाडियों के पहियों ने नालियां-सी बना दी है।

दूर गांव की पगडण्डियों से आने वालों को नहर का पुल और उस पर से जाती सड़क धनुष की तरह दिखाई देती है। जलती पगडण्डियों से वे पुल देखते-देखते लपकते चले आते हैं।

विश्वनाथ भी जल्दी-से-जल्दी पुल तक पहुंच कर ही सुस्ताना चाहता था। वहां एकाध दुकानें भी हैं, चना-चबेना मिल जाता है। गुड़ और लाई मिल जाती है और छांह भी! …लेकिन पुल अभी दो मील से ज्यादा दूर है और जलते सूरज की गर्मी ने उसके बदन को

सारी ताकत सोख ली है। धूल-पसीने से भीगे किरमिच के जूते फचर-फचर कर रहे थे। गर्दन और कनपटियों पर पसीना ढरक रहा था। गर्दन की रेखाओं और कान की लवों के पीछे नमक-सा किरकिरा रहा था। विलासी नाऊ ने दाढ़ी बनाते वक्त कान के पास उस्तरा मार दिया था। वह जरा-सी कटी हुई जगह जरा ज़्यादा ही चिलक रही थी, लगातार चुन-चुनाहट हो रही थी। सफेद खादी की टोपी की कोर मीठे खरबूजे की तरह चिपचिपा रही थी।

बड़ा बुरा हाल था विश्वनाथ का। बड़ी दुर्गति हो जाती है इस गर्मी में। इससे अच्छा था कल शाम को ठण्डे-ठण्डे में निकल गए होते। लेकिन मुश्किल तो चीज़ों की थी। कोई चीज़ मिलती ही नहीं। बाज़ारों में सब कुछ है पर जो चाहिए वह नहीं है, और जिस कीमत पर चाहिए उस कीमत पर नहीं है।

इतने बरसों के बाद कितना बदला-बदला लगता है यह मैनपुरी कस्बा भी। सड़कें वही हैं। पहले कंकड़ की थीं, अब सीमेंट या डामर की हो गई हैं। दुकानों की कतारें भी वही हैं पर अब पक्की बन गई हैं। लगता है जैसे कुछ खुशहाली आई हो। जिनकी दो फड़ की दुकान थी, अब चार फड़ की हो गई है। पर विश्वनाथ को वे पुराने चेहरे नहीं दिखाई दिए, जो छोटी-छोटी दुकानों में दिखाई देते थे। बताशे और गजकपट्टी वाले जाने कहां चले गए। तम्बाकू वालों की छोटी-छोटी कोठरियां न जाने कहां खो गईं। चांदी का काम करने वाले सुनार न जाने कहां उठ गये। पटरियों पर अपनी जगह छेक कर जो बिसाती, सुर्मे वाले और कटपीस वाले बैठते थे—वे दिखाई ही नहीं दिए। सब कुछ बड़ा-बड़ा हो गया है। बड़े तम्बाकू वाले और बड़े हो गए हैं। कपड़े वाले भी बड़े-बड़े दिखाई देते हैं। ननकू पण्डित तब भी औरों से बड़े मिठाई वाले थे, पर अब तो उन्होंने बगल वाली दुकानें लेकर वैष्णव होटल भी खोल लिया है…।

यह सब देखकर विश्वनाथ को अच्छा भी लगा था, पर मन

भीतर-ही-भीतर भर भी गया था। बड़े, बड़े हो जाएं, यह तो ठीक है, पर छोटे खो जाएं, यह गलत है।

•• तभी लू का धूल उड़ाता एक झोंका आया और विश्वनाथ की आंखों में तपती धूल भर गई। अंगोछे से मुंह साफ करके उन्होंने छांह खोजने के लिए नजर दौड़ाई। बुरा हो इन रेवड़ वालों का जो लग्गी में हंसिया बांधे पेड़ों के सब भौंरे काट-काट कर बकरियों को खिला देते हैं। नंगे ढूंठ खड़े रह जाते हैं…तने की छाया भर रह जाती है—धूप-घड़ी की तरह सरकती हुई। आदमी दो पल सांस लेने के लिए बैठे भी तो कहां ?

…कस्बे के बाजार में भी अब कहीं बैठने की जगह नहीं रह गई। नहीं तो पहले चाहे जिस दुकान के पास के चबूतरे पर आदमी बैठ लेता था। अब तो कहीं जगह ही नहीं है। बेंच या टीन की कुर्सी पर मिनट-दो मिनट बैठना भी चाहो तो दुकान का लड़का फौरन आकर पूछने लगता है—क्या चाहिए ?…जब तक कुछ खरीदना-खाना न हो, तब तक बैठना भी मुनासिब नहीं लगता। अजीब हालत है। जरा-जरा-सी चीजें खरीदने में ही पूरा दिन निकल गया। रात पड़ गई। और तो और रामचरन अत्तार वाली गली में जो बन्ने मियां तस्वीर वाले की दुकान थी, वह भी नहीं रह गई। खोजने पर मालूम हुआ—बस के अड्डे पर तस्वीर वाले की एक दुकान है। बस अड्डे पर पहुंचे तो अड्डा वहां था ही नहीं। बदलकर मील भर आगे चुंगी के पास चला गया था। जैसे-तैसे वहां पहुंचे तो और गुस्सा आया—अब दुकान मिली तो गांधी जी की तस्वीर नहीं थी। सिनेमा वालों की तस्वीरें थीं। तस्वीर वाले से पूछा तो उसने सीधा जवाब दे दिया—ऐसी तस्वीरें तो देवी के मेले के वखत मिलेंगी। कौन खरीदता है अब। इधर तो ये सिनेमा वाली ही चलती हैं…।

विश्वनाथ का मुंह उतर गया था। तब शायद तस्वीर वाले को दया आ गई थी और उसने मेहरबानी करके बता दिया था—

या फिर वन्ने मियां के पास चले जाओ, उनके पास पुरानी-धुरानी तस्वीरें मिल जाएंगी।

—वन्ने मियां की दुकान तो उठ गई·· अत्तारों वाली गली में है ही नहीं। मैं वहां होकर आया हूं। विश्वनाथ ने कहा।

—हां···वो दुकान तो बिजली वालों ने खरीद ली है। वन्ने मियां को वहां से उठना पड़ा···अब वे डाकखाने की पास वाली मस्जिद के पीछे रहते हैं। वहीं चले जाओ···तस्वीर वाले ने कहा, तो वे उठकर चल दिए।

खोजते-खोजते वन्ने मियां की कोठरी मिली। फिर वहुत खोजने पर गांधी जी की वड़ी-सी एक तस्वीर भी मिल गई थी··· उसका दिल ही जानता है कि वन्ने मियां और उनका हाल देखकर उस पर क्या गुज़री थी।

तस्वीर मढ़वाने के लिए फिर मील भर भागना पड़ा था। वहां भी वही हुज्जत—अभी नहीं मढ़ पाएगी। हमें ये वारह तस्वीरें मढ़नी हैं। सिनेमा के पास नया चायघर खुला है, उनका आडर है!

विश्वनाथ घुटने तोड़ कर वैठ गए थे—यह तस्वीर तो मढ़ ही दो भइया! हमें वहुत दूर जाना है। रात पड़ जाएगी तो कहीं ठहरने का ठौर-ठिकाना भी नहीं।

तस्वीर वाले ने लकड़ी की नाली में चमकदार फ्रेम का टुकड़ा रखा, आरी चलाई और कोना मिला कर चोवा ठोकते हुए वोला—अच्छा, वैठ जाओ। ये दो कर दें···फिर तुम्हारी तस्वीर मढ़ देते हैं।

विश्वनाथ वैठे-वैठे देखते रहे···चायघर के लिए जो तस्वीरें वन रही थीं, वे सव-की-सव अधनंगी अप्सराओं की थीं, एक तरफ वैठा एक लड़का एक औरत की रंगीन चोली पर सींक से गोंद की लकीरें खींच-खींच कर सुनहरा वुरादा चिपका रहा था। वुरादा डालकर उसने तस्वीर को नाव की तरह किया; हिलाया डुलाया,

बाकी बचा बुरादा तश्तरी में गिरा कर तस्वीर पर फूंक मारा और फ्रेम बनाने वाले को दिखाया—ठीक है !

उसने चश्मे के भीतर से देखा और कहा—दूध पर एक बूंदी और रख दे···

लड़का गोंद लगाने लगा।

विश्वनाथ के मुंह में कसैला स्वाद भर गया।

खैर जैसे-तैसे गांधी जी की तस्वीर का फ्रेम बन गया। पर अभी तो छोटी-मोटी तमाम चीज़ें खरीदनी थी। पट्टियां, बुदक्के, घोटा, खड़िया, कलमों के लिए सेंठा। एक लालटेन। कुछ बताशे··· आखिर 'हिंदी मन्दिर' खुलेगा तो बताशे तो बटेंगे ही। पर बताशे भी आसानी से नहीं मिले। एक तो चीनी की दिक्कत, ऊपर से मुख्य बाज़ार में अब वे छोटी दुकानें ही नहीं रह गईं। विश्वनाथ को मारा सामान लटकाए-लटकाए बज़रिया जाना पड़ा। पाण्डे जी के बाग के पिछवाड़े जहां से पुरानी मैनपुरी को सड़क जाती है।

इस 'हिंदी मन्दिर' ने मुश्किल में डाल दिया। पर जो काम उठाया है, वह करना तो है ही। पुरानी मैनपुरी में ही चुंगी के तख्त पर रात गुज़ारी थी। और कोई चारा नहीं था। यह तो कहो गर्मियों के दिन थे, तो रात जैसे-तैसे गुज़र भी गई। सर्दी की रात होती तो आफ़त हो जाती।

चुंगी के मुंशी जी एक खटिया डाल कर लेट गए थे। विश्वनाथ को उन्होंने तख्त दे दिया था। चुंगी का चबूतरा गोबर और राजा साहब के तालाब की पोता मिट्टी से लिपा हुआ था और उनके सिरहाने लालटेन का खम्भा था, जो रात भर टुमकती रही थी। लालटेन के खम्भे में ही रवन्ना (र व न्ना) की कापी एक कील से लटकी थी और एक छोटी-सी पेंसिल काले डोरे में बंधी एक कटी हुई उंगली की तरह कांप रही थी।

बातों-बातों में मुंशी जी से जान-पहचान निकल आई थी। और उन्होंने सब कुछ याद करते हुए एकाएक कहा था—

ओक्खोह ! तो तुम चंदनलाल के भतीजे हो···लाला वनवारी लाल के लड़के ! चंदन लाल तो जमींदार साहव के कारिंदा थे ! उसी घर के हो···।

तखत पर लेटे-लेटे विश्वनाथ को सव याद आने लगा था। वे उस दुख भरे सिलसिले को अव याद नहीं करना चाहते थे। सच पूछो तो भूल भी गए थे···पर मुंशी जी ने तखत दिया था, इसलिए कुछ खयाल तो करना ही था। इतना मतलवी तो नहीं वना जा सकता कि किसी के किए उपकार को टाल दिया जाए। विश्वनाथ चाह रहे थे कि किसी तरह मुंशी जी सो जाएं। पर जिस तरह वे रह-रह कर जांघ या पीठ के पीछे खुजला रहे थे, उससे यह साफ था कि खटिया में वेशुमार खटमल हैं और वे जल्दी सो नहीं पाएंगे। मुंशी जी ने एक वार उठकर खटिया को जोर-जोर से पटका भी, पर उससे कुछ हासिल नहीं हुआ, खटमलों का हमला जारी रहा।

वात वदलने के लिए विश्वनाथ ने कहा—ये लालटेन बुझा दें ?

—नहीं, कोई रात को गुजरा तो विना रवन्ना कटाए निकल जाएगा। लालटेन जलती रहती है तो लोग समझते हैं मुंशीजी जाग रहे हैं···मुश्किल ये है कि जव सवेरे-सवेरे हलकी हवा चलती है, थोड़ी ठण्डक होती है तव जमके नींद आती है; उसी वखत शहर की तरफ के लिए माल वाली गाड़ियां जाती हैं। तव साले रवन्ना काटने पड़ते हैं···मुंशी जी ने कहा और उन्होंने फिर विश्वनाथ की उसी दुखती रग पर हाथ रख दिया था—चंदन लाल तुम्हारे ताऊ थे···हें ? आदमी वड़ा ज़ालिम था भइया ··सुना था तुम्हारे वाप की ज़मीनें भी उसने दवा ली थीं · ज़मींदार का कारिंदा ! कुछ भी कर सकता था···तुम्हारे वाप तो कुछ कर्जा छोड़ के भी मरे थे···हें ?

विश्वनाथ का मन उचट रहा था। कहां की वातें···कव की

बातें···क्या लेना-देना है अब उन बातों से। उसे तो कोई शिकायत नहीं है। गांव से उसका संबंध ही क्या रह गया था। बाबू जी ने उसे प्राइमरी के बाद ही सरकारी स्कूल में दाखिल करवा दिया था और शहर के सरकारी स्कूल के बोर्डिंग में ही वह रहता था। वहीं रहकर पढ़ा। बाबू जी की बड़ी इच्छा थी कि विश्वनाथ मिडिल करके कलक्टरी-कचहरी या शहर के दफ्तर में मुलाज़िम हो जाए। पर विश्वनाथ पर तो दूसरा ही भूत सवार था। वह तो 'स्वदेशी' था। अच्छी तरह पढ़-लिखकर वह गांधी जी के आंदोलन में शामिल होना चाहता था। इसलिए मिडिल के बाद उसने हाई स्कूल किया था और अंग्रेज़ी में जिले भर में सबसे ज्यादा नम्बर लाया था।

लोगों ने कहा भी था कि अब विश्वनाथ के बड़े बाबू हो जाने में देर क्या है! अंग्रेज़ी आती है, किसी भी अंग्रेज साहब के साथ चिपक जाएगा तो जिले भर का मालिक बन जाएगा!

पर विश्वनाथ इस सब के लिए तैयार नहीं था। गांव गया था तो बाबू जी ने बहुत समझाया था—देखो बेटा···खाने-पीने की कोई कमी नहीं है। पैसे की खातिर मैं नौकरी करने को नहीं कहता···पर आदमी इज्जत और रुतबा भी हासिल करे तो क्या बुरा है···घर का नाम रोशन हो···वंश की तारीफ हो···।

विश्वनाथ ने उन्हें टके-सा जवाब दे दिया था—बाबू जी शहर में ही स्वदेशी स्कूल खुल रहा है ··वहां अपनी भाषा के ज़रिए सब विद्या और ज्ञान देने का प्रबंध होगा ··हमने तय किया है, उसी स्कूल मे पढ़ाएंगे···।

···तो फिर इंगलिश पढ़ने का फायदा? *बाबू जी ने मुंह बा* के पूछा था।

फायदा यही कि हम अपनी कमियां समझ पाएं···अपने लोगों को दिमागी गुलामी से निकाल पायें। जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, उन्हें पढ़ा-लिखा कर तैयार करें···। विश्वनाथ बोला था।

तुम्हारी अकल पे तो पत्थर पड़ गये हैं ! बाबू जी ने दातून फेंक कर कहा था और वे कुएं पर कुल्ला करने चले गए थे।

तब विश्वनाथ ने नहीं समझा था कि बाबूजी सरकारी नौकरी की नकेल उसकी नाक में क्यों डालना चाहते थे। वह समझ रहा था कि शायद सिर्फ पैसे और ओहदे के लिए ही वह ऐसा चाहते हैं।

पर यह तो उनके अंतिम दिनों में साफ हुआ था जब मरने से कुछ दिन पहले उन्होंने उसे बुलाया था। विश्वनाथ स्वदेशी स्कूल से छुट्टी लेकर गांव आया था। उसे पता भी नहीं था कि बाबूजी इतने बीमार होंगे और घर में आफत मची होगी।

असल में बाबूजी बहुत सीधे थे। ताऊ चंदनलाल जमींदार के कारिंदा थे, इसलिए उनका दबदबा बहुत था। उन्होंने गांव वालों पर ही अत्याचार नहीं किए थे बल्कि खुद अपने छोटे भाई बनवारी लाल को भी नहीं बख्शा था। धीरे-धीरे उन्होंने उसके बाबूजी का हिस्सा भी दाब लिया था। और उसके बाबूजी अंतिम दिनों में खुद अपने घर में ही बेदखल होकर रह गये थे।

तब उनकी बुझती आंखों में विश्वनाथ ने वह लालसा पढ़ी थी कि वे क्यों चाहते थे कि वह कलक्टरी-कचहरी में बड़ा बाबू हो जाए। उसके बाबू अपने बड़े भाई के अत्याचारों से परिचित थे··· वे खुद उन अत्याचारों का शिकार बनते जा रहे हैं, यह भी उन्हें पता था। और वे यही चाहते थे कि किसी तरह विश्वनाथ ऐसे ओहदे पर चिपक जाए जहां से वह अपने ताऊ की कानूनी तिकड़मों का मुंह-तोड़ जवाब दे सके···

उनकी इस लालसा को उसने उनके—अंतिम दिनों में एकदम सूखी और खाली-खाली आंखों में पढ़ा था। वह उन्हें बताना चाहता था कि बाबूजी···इस अत्याचार का कारण बहुत बड़ा है ··और मैं अत्याचार के इस कारण से ही लड़ने जा रहा हूं···ज़्यादा बड़े पैमाने पर···

विश्वनाथ ने कुछ बताने की कोशिश भी की थी, जिसे सुनकर उनकी आंखों का सूनापन और बढ़ता गया था। कुछ दर्द-सा उनके चेहरे पर उभर आया था और आंखों में आंसू भर आए थे···फिर उन्होंने अपना मुंह दूसरी ओर घुमा लिया था, जैसे वे विमुख हो गए हों! उनकी कनपटी की नस बुरी तरह फड़क रही थी···

तखत पर लेटे-लेटे विश्वनाथ को बाबूजी से हुआ यह अंतिम मिलन ही याद आया था। उसके बाद उसने बाबूजी को कहां देखा था? वह तो गांधी जी के आदेश पर हिन्दी पढ़ाने के लिए दक्षिण की ओर चला गया था—कालीकट-कोचीन! उसे तो यह भी चौदह दिनों बाद पता चला था कि बाबूजी नहीं रहे और ताऊ जी ने बेदखली कराके अब गांव में उसके लौटने का भी कोई रास्ता नहीं छोड़ा है। ऊपर से अफवाह यह भी फैलाई है कि उसके बाबू जी की बीमारी, दवादारू और तीमारदारी में बहुत पैसा उठ गया है। ऊपर से वे चार-छः हजार का कर्जा छोड़ गये हैं।

विश्वनाथ समझ ही नहीं पाया था कि बाबूजी पर कर्जा किस बात का हो गया था···

यह बेदखली वगैरह की बातें तो उसे तब पता चली थी जब वह वर्धा से नागपुर गया था और मुन्नी नागपुर में ही मिली थी। ताऊ चंदनलाल की लड़की, उसकी चचेरी बहन मुन्नी, जो वहीं नागपुर में ब्याही थी। उसे ताज्जुब भी हुआ था कि मुन्नी खुद अपने पिताजी के विरुद्ध सोचती होगी। वह जबरदस्ती उसे पकड़ के घर ले गई थी। खूब खातिर की थी। बोली थी—भइया! हमें सब मालूम है···पिताजी ने चाचा और तुम्हारे साथ जो कुछ किया, वह अच्छा नहीं किया···

···अरे छोड़ मुन्नी! हमें घर से लेना-देना ही क्या रह गया है जो अफसोस करूं? उसने कहा था—जो हुआ सो ठीक है···

तब मुन्नी का पति जगदीश बीच में बोल उठा था—भाई

साहब···आप गांधी जी हो सकते हैं···सब तो नहीं···

···अरे गांधी जी गांधी जी हैं! उसने टोका था—हम क्या हैं? हम तो उनके सिपाही हैं···छोड़ो इन छोटी बातों को···बहुत बड़े-बड़े काम करने हैं हमें!

हमें तो तुम्हारा काम कुछ समझ में नहीं आता भइया! मुन्नी ने प्यार से कहा था—तुम काहे को दर-दर भटक रहे हो? काहे को अपनी जिंदगी खराब कर रहे हो? इतना पढ़ा-लिखा है तुमने··· आराम उठाओ ज़िंदगी में···

लेकिन आराम कहां?

फिर आराम कहां मिला?

चुंगी के तखत पर लेटे-लेटे गहरी सांस लेकर उसने करवट ली थी। मुंशी जी खटमलों के काटते रहने के बावजूद सो गए थे। चुंगी का लैम्प जल रहा था। रवन्ने की कापी उसी तरह लटकी थी। काले पड़ गए डोरे में कटी उंगली की तरह बंधी पेंसिल वैसे ही कांप रही थी और ऊपर नीम का छतनार पेड़ किसी बहुत बड़ी चील की तरह काले डैने फैलाए खड़ा था। चारों तरफ दूर-दूर तक अंधेरा था···

रात ऐसे ही जागते-जागते कटी थी इसीलिए सुबह जरा देर तक आंख लग गई थी और उठकर चलने में देर हो गई थी। नहीं तो धूप चटखने से पहले चल देते तो यह हालत न होती। या कल शाम ही को निकल लिए होते···पर अब क्या किया जा सकता है? ऊपर से सामान का यह बोझ···सारे शरीर पर रेंगते हुए पसीने के पतले-पतले सांप! और रह-रह कर जगह-जगह उठती-चिलकन···जैसे वे सांप अपने छोटे-छोटे दांतों से यहां-वहां काट लेते हों···

उसने एक बार फिर नहर के पुल की ओर देखा—वहां तक पहुंचना उसकी शक्ति में इस वक्त नहीं था। धूप ने बेतरह निचोड़ लिया था। लालटेन और खादी का भरा हुआ झोला वहीं पेड़ की

जड़ के पास रखकर वह धूप-घड़ी की तरह खिसकती तने की पड़ती छाया में सांस लेने के लिए लेट गया था। जड़ का तकिया बनाकर। खादी के झोले की तनी टूट गई थी। इसे भी आज ही टूटना था। अब झोला उठाना भी बोझ हो गया था। खादी में यही तो खराबी है···एक तार टूटा तो सब टूटते चले जाते हैं·· कच्ची कपास के कारण! तब झोला भी बगल में दबा के चलो··· बांह ऊपर से दर्द करने लगती है। इस तपती दोपहरी में तो मन करता है कि आदमी एक-एक चीज उतार कर फेंक दे और हलका हो जाए। ऊपर से यह झोला और आफत किये है·· उन्होंने झोला तने से टिका दिया। तस्वीर के फ्रेम के कारण झोला सीधा-सीधा टिक गया। विश्वनाथ को सारी खीझ और परेशानी के बावजूद हलकी-सी हंसी आ गई—झोले को देखकर! यह कैसा गांधी जी की तरह बैठ गया था···

2

लेटे-लेटे पेड़ की जड़ गड़ने लगी तो उसने झ
कर सिरहाना बना लिया था। लेकिन नींद
तरफ जैसे आग बरस रही थी और तने की छाय
तरह सरक गई थी। वह सरक कर लेट गया
पर गुस्सा आया था। गांधी जी पर भी जो भ
बकरी वालों पर भी—जिन्होंने पेड़ों में पत्तियां
चुंगी के नम्बरी पेड़ थे पर उन्होंने सारे झौंरे व
बकरियों को खिला दिए थे। पेड़ों में ठूंठ भर
टहनियां! कहीं ऊपर फुनगियों पर पत्ते लगे
छाया पपड़ाए मैदान में पड़ती भी तो उड़ती
तरह। उस उड़ती छाया में कोई बैठ सकता है
लग्गी पहुंचती तो बकरी वाले उन्हें भी न छोड़ते

चारों तरफ सन्नाटा था। झुलसी घास थी
थी। लू चल रही थी। फिर भी विश्वनाथ स
थे। ज़रा-सी आंख लगी तो पैरों और गर्दन
लगा। झाड़ते हुए उठे तो देखा—पास ही चीं
हज़ारों चीटियां उन पर से रेंगती हुई पेड़ पर
शरीर पसीने से भर गया था। पलकों पर भी
आया था···अंगोछा निकाल कर पसीना पोंछ
बुकनी जैसी आंख में चली गई हो। कान के प
फिर चिलकने लगा था।

गहरी सांस लेकर विश्वनाथ सोचने लगा–

उसने जिंदगी बरबाद कर दी ? राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए ? हिंदी के प्रचार और प्रसार के लिए ? पर हुआ क्या ? ···सोचा तो यही था कि आजादी मिलने से पहले ही देश में अपनी भाषाएं आ जाएं···अपनी भाषाएं—मराठी, गुजराती, मलयालम, तमिल, तेलुगु, बंगला, असमिया, पंजाबी, उड़िया, कश्मीरी डोगरी, कन्नड़ ···ताकि देश गूंगा न रह जाए और सब भाषाओं को जोड़ने के लिए हिंदी आ जाए ··पूरे देश को अपनी आवाज मिल जाए··· यही तो गांधी जी ने सोचा था।

लेकिन हुआ क्या ? आज़ादी के इतने बरसों बाद जब कालीकट, कोचीन, बंगलौर, मद्रास से लौटा भी तो क्या मिला ? इतने बरस एक जगह से दूसरी जगह भागता रहा ··दक्षिण भारत में, एक कोने से दूसरे कोने तक—देश को अपनी भाषाएं देनी हैं·· देश को हिंदी देनी है···सन् तीस में निकला था स्वदेशी स्कूल की मास्टरी छोड़-कर—हिंदी प्रचार के लिए ! और अब लौटा तो देखा, जहां हिंदी थी पहले, वहां भी हिंदी नहीं रही है कहां हैं अपनी भाषाएं ? कहां है हिंदी ? लोग वैसे ही गूंगे बैठे हैं · उसी तरह पड़े हुए हैं ··

सामने नजर गई तो देखा—उसके किरमिच के जूते धूप में सूख कर अकड़ गए हैं। टेढ़े-मेढ़े हो गए हैं। उसे याद भी नहीं आया कि उसने जूते कब उतार दिए थे। तभी लू का एक बगूला दूर से दौड़ता आया और शीशम की सींप जैसी सूखी पत्तियां चकरानी-दौड़ती उड़ती चली गईं ··कुछ वहीं छूट गईं। अकुए के रेशमी फूल बगूले में उड़ते चले गए ! वह दूर तक दौड़ते जाते धूल के बगूले को देखता रहा। फिर कहीं एक और बगूला उठा···फिर एक और··· उस निचाट सूने मैदान में···

तभी एक चील चीखी। जैसे उसने किलकारी भरी हो···फिर कुछ क्षणों तक चील की आवाज़ टूट-टूट कर आई थी—अ··· आ ··इ···ई···और खामोशी छा गई थी। सन्नाटा और बढ़ गया था। पर उसके कान में अ···आ···इ···ई···गूंज गया था।

अ···आ···इ···ई···! क···र··कर ! प···र···पर ! घ···र···घर ! राम खाना खा। राम खाना ला !

अब घर चल ! अब घर चल ! राम अब घर चल ! ···हमेशा यही होता है। कोई भी आवाज़ हो, उसके लिए वह इन्हीं स्वरों में बदल जाती है···क···र···कर ! घ···र···घर ! अब···घर··· चल··अब घर चल ! कभी-कभी तो चलते-चलते किरमिच के जूतों से भी यही आवाज़ आती है। बिलकुल साफ़-साफ। बायां पैर पड़ा —अब ! दायां पैर पड़ा—घर ! फिर बायां पैर पड़ा दायां, बायां— अब घर चल ! बायां, दायां, बायां—अब घर चल ! ···बांयां, दायां, बायां···और इन एक-सी निकलती अब घर चल ! बायां, दायां बायां आवाज़ों की बेहोशी में तो कभी-कभी विश्वनाथ मीलों इसी तरह निकल गया है—अब घर चल ! जब ये आवाज़ें घेर लेती हैं तो हर कदम के साथ संगीत-सा पैदा होता है और वह चलता जाता है···

ओफ़···कितने बरस हो गए यों चलते हुए ! अब याद करो तो बहुत-सी बातें याद भी नहीं आतीं। सब गड्ड मड्ड हो जाता है। लोगों के चेहरे तक याद नहीं आते। कोई पुराना विद्यार्थी मिलता है तो वही पहचान ले तो पहचान ले···उसे कुछ याद नहीं आता कि कब किसे कहां पढ़ाया था। जिन्हें पढ़ाया था, उनकी भी तो शक्लें बदल गयी हैं और फिर कोई कितना याद रखे—स्वदेशी स्कूल में अस्सी छात्र थे। स्वदेशी स्कूल छोड़कर जब नागपुर गया था तो वहां जिस धरमशाला में स्कूल खोला था, उसमें सौ से ज्यादा विद्यार्थी थे। फिर बंगलोर में···फिर मद्रास में, फिर तिरुपति में, उसके बाद त्रिचूर में, चेंगलपेठ में···और सबसे ज्यादा दिन रहा था कालीकट-कोचीन में। जहां भी गया, सम्मान ही मिला। लोगों ने हमेशा अगवानी की। कौन-सा प्रदेश बचा था दक्षिण का ? कौन-सा तालुका ? जब जहां से चला, साथ में अक्षर ज्ञान की पोथियों के बण्डल के बण्डल बांध कर ले गया। हिंदी प्रबोधिनी की प्रतियां ले गया। जगह-जगह पाठशालाएं बनाईं। रात-दिन लोगों को अक्षर-

ज्ञान कराया राष्ट्रभाषा पढ़ाई। दस्तखत करना सिखाया। उन्हें साक्षर बनाया और पाठशाला बनाकर दूसरे इलाके में चल दिया—देश को उसकी भाषाएं देनी हैं। भाषाओं को जोड़ने के लिए राष्ट्र-भाषा देनी है…

कभी यह जाना ही नहीं कि अपना घर भी कुछ होता है। कि घर की कभी जरूरत भी पड़ती है। तब तो बस एक ही धुन थी—अ…आ…इ…ई…अ…आ…इ…ई…

कालीकट और कोचीन में भी जब मानसून आता था तो घुमड़ते और इठलाते बादलों में बनते-बिगड़ते अक्षरों को देखते रहना ही आदत बन गई थी। सूरज की नरम और लुकती-छिपती रोशनी में गोटेदार किनारी वाले बादलों के अक्षर! नारियल के पेड़ों से गुजरती हवा भी आती तो लगता था, हवा कह रही है—राम खाना खा…राम पाठशाला चल!

लेकिन अब रह-रहकर कदमों से एक अवाज़ बहुत निकलती है—अब घर चल! बायां, दायां, बायां …अब घर चल! परअब घर कहां…इतने बरसों बाद घर का नाम कहा? किसके पास जाने को घर? कौन है जिसके पास चला जाए…होने को तो जहां भी होता है चार दीवारें तो होती ही हैं…दो-चार बर्तन-भांडे भी जमा हो ही जाते हैं। छोटा-सा टीन का बक्सा भी होता है। एक खटिया भी होती है …पर घर कहां? किसके पास जाने को घर? प्रचारकों के पास वक्त कहां?…देश निरक्षर है…ऐसे देश कैसे बढ़ेगा! भविष्य कैसे बनेगा…अपनी भाषाएं नहीं आएंगी तो अपनी भाषा, अपना देश…अपना राज अपना वेश! यह कैसे होगा?

और तब विश्वनाथ सोचता था कि जो आज़ादी पाने के लिए जान की बाजी लगाए हैं उन्हें उसे हासिल करने दो। हमें तो तब तक देश को एक बना के रख देना है…जो उत्तर बोलता है वह दक्षिण समझ सके। जो दक्षिण बोलता है उसे उत्तर समझ सके! पूरब

को पश्चिम समझ सके। पश्चिम को पूरब···सब सबको समझ सकें ! ऐसे में कहां घर होता ? घर के लिए वक्त कहां था···सारा देश ही घर था···

चींटियों ने फिर हमला बोल दिया था। इस बार पैरों में काट भी लिया था। चुनचुनाहट हो रही थी। वह सरक कर बैठ गया। शाम तक तो गांव पहुंचना ही है। जैसे भी हो वैसे। आखिर, 'हिंदी मंदिर' आज ही खुलना है, चाहे जो हो जाए। पर इतनी धूप में चला भी तो नहीं जाता, भूख ऊपर से लग रही है।

नहर के पुल तक पहुंच गया होता तो खाने को तरबूज, खरबूजा या ककड़ी तो मिल ही जाती। हलक अलग सूख रहा है। कुछ समझ में नहीं आया तो झोले से गांधी जी की फ्रेम की हुई तस्वीर निकाल कर देखने लगा। तस्वीर निकाल ली तो झोला पिचक कर दोहरा हो गया। विश्वनाथ के सूखे जलते होंठों पर झोले को देखकर फिर ज़रा-सी हंसी आ गई।

असल में गांधी जी की वह तस्वीर नहीं मिली जो वह चाहता था। 'हिंदी मंदिर' में लगाने के लिए चाहिए तो भारत माता की तस्वीर थी। भारत माता की वह तस्वीर—जिसमें उनके पैरों में एक सिंह बैठा हुआ है और बाएं हाथ में तिरंगा है। जिसमें अफ़गानिस्तान वाले कोने की तरफ तिलक की गोल तस्वीर है। तिब्बत वाले सिरे पर गांधी जी की और बर्मा की तरफ गोखले की !

बन्ने मियां से बहुत जिद की पर उन पर कोई असर ही नहीं हुआ। उसे ताज्जुब भी हुआ था कि बन्ने मियां को हो क्या गया था ! आंखें कमजोर हो गई थीं; यह तो समझ में आता था, पर तस्वीर देने में उनकी रुचि क्यों नहीं थी, यह समझ में नहीं आया था।

चिढ़े हुए स्वर में वे बोले थे—जो तस्वीर चाहते हो···अब

नहीं मिलती। छपती ही नहीं। ये जो सामने पड़ी हैं···देख लो···लेना हो ले लो, नहीं तो कहीं और देख लो···हमारे पास नहीं है भारत माता की तस्वीर···

सुनकर वह अवाक् रह गया था। पहले तो बन्ने मियां ज़िद करके भारत माता की तस्वीर दिया करते थे—पण्डित विसुनाथ! मदरसे में यह तस्वीर होनी ही चाहिए!

सामने फैली तस्वीरें उसने देखी थीं—मक्का-मदीना की तस्वीरें थी। सुलताना डाकू की थी। गुलबकावली और रामी धोबिन की थी। गुरु नानक और अक्षयवट की तस्वीरें थी। कृष्ण और गोपियों की थी। विश्वामित्र और मेनका की थी···सब की थीं। भारत माता की तस्वीर नहीं थी।

आखिर झुंझला कर बन्ने मियां ने लिपटा हुआ पुलिंदा फेंक दिया था—इस में देख लो मिल जाए तो ले लो।

उसी पुलिंदे में यह गांधी जी की तस्वीर मिली थी जिसे मढ़वाने में तीन घंटे लग गए थे···

पैसे देने लगा था तो फिर बन्ने मियां चिढ़कर बोले थे—अरे जो देना हो, दे दो···झंझट काटो···

—आपने शायद पहचाना नहीं? विश्वनाथ ने बहुत अपनेपन से कहा था—मैं पण्डित विश्वनाथ हूं···स्वदेशी स्कूल वाला···आपसे ही तस्वीरें लेता था, तब आपकी दुकान रामचरन अनार वाली गली में थी! और···

वह कह ही रहा था कि बन्ने मियां ने जैसे उकता कर फिर बात तोड़ दी—पहचान रहा हूं···अरे सबको पहचानता हूं! ऐसा कौन है जिसे जानता नहीं···खूब जानता हूं।

विश्वनाथ के मन में और आगे बात बढ़ाने का उत्साह नहीं रह गया था। पर उठकर चलने से पहले वह अपरिचित की तरह नहीं रहना चाहता था। चाहता था कि बन्ने मियां से उनका दुख-सुख भी पूछ ले। लेकिन इसका मौका उन्होंने नहीं दिया। विश्वनाथ

को बैठे देखा तो करख्त आवाज़ में बोले—तस्वीर मिल गई न !

—हां

—तो अब क्या कर रहे हो···चलते बनो···

वह देखता ही रह गया था उन्हें। बन्ने मियां एकाएक पीठ मोड़ कर घुटनों पर बांहें रखकर बैठ गए थे जैसे उन्हें उससे कोई लेना-देना न हो तब विश्वनाथ ने उनकी कोठरी पर उचटती-सी नज़र डाली थी—

कोने में बंधी सुतली पर लटकता हुआ एक तहमद एक कुर्ता। उसी कोने में टिकी एक पुरानी घड़ी। दूसरे कोने में पानी का टोंटी-दार गड़ुआ ! तामचीनी के तीन-चार बर्तन···खिचड़ी की जूठन। राख में सना ईंट पर रखा बान का जूना, पास में राख। तस्वीरों वाली दीवार से लगा टीन का पुराना बक्सा और पास में रखी काली लालटेन !

उसे वह कोठरी अपनी कोठरी से अलग नहीं लगी थी। उसकी अपनी कोठरी में इसके अलावा और क्या होता है। सिवा एक विश्वास के जो मन में होता है···वही विश्वास बन्ने मियां में भी तब होता था। और मन में लगन होती है, विश्वास होता है तो और चीज़ों की ज़रूरत ही कहां पड़ती है ? उन दिनों में, जिन लोगों के मन में कोई लगन नहीं थी, कोई विश्वास नहीं था, उनके पास बहुत चीज़ें होती थीं···सुख-सुविधा की सब चीज़ें···जिनके पास लगन और विश्वास नहीं होता उन्हें हमेशा बहुत-सी चीजों की जरूरत पड़ती है !

विश्वनाथ का मन वहां से उठकर चलते हुए बुझ गया था··· क्या बन्ने मियां में अब वह सब नहीं रह गया ? लेकिन क्यों ? लेकिन क्यों ? वह पूछना चाहता था—बन्ने मियां ! तुम्हें हो क्या गया है ?

शायद तब और भी टेढ़ा जवाब मिलता—तुम से मतलब ? अपना दिल टटोल कर देखो !

आंखों में आंसू भरे-भरे मुन्नी भी हंस पड़ी थी और प्यार से ठुनकती हुई बोली थी—देख लिया भइया। ये इसी तरह रुलाते रहते हैं! हां···नहीं तो···और उसने जगदीश को देखकर आगे कहा था—भइया आए हैं, कुछ ले आओ खाने के लिए···

विश्वनाथ के मना करने पर भी जगदीश सीटी बजाता बाहर बाज़ार चला गया था। तब वह और मुन्नी अकेले रह गए थे।

कुछ क्षणों बाद मुन्नी ने कहा था—भइया! एक बात कहूं?

—हां···हां···कहो! विश्वनाथ बोला था।

—तुम ऐसे ही भटकते रहोगे?

उसने मुन्नी को गहरी नज़रों से देखा था। उसके पास कोई जवाब नहीं था पर बोला था—देख मुन्नी! मैं तेरे मन की तकलीफ समझता हूं! पर तू क्यों दुख उठाती है? ताऊ जी ने जो कुछ किया···भूल जा उसे···मैं तो कभी कुछ नहीं कहता···

—यही तो और सालता है! मुन्नी बोली थी।

—काहे को···अरे पगली···ताऊ जी कुछ न भी करते तो भी मैं हिन्दी प्रचार का ही काम करता। तू समझती है कि घर पर सब कुछ होता तो मैं इस काम में न पड़ता···तेरा यह सोचना गलत है मुन्नी! तू क्यों अपना मन दुखाती है···

तब मुन्नी ने उसे रुक कर देखा था। फिर बोली थी—इतनी ही बात नहीं है भइया! बात इससे भी बड़ी है···वह इलाहाबाद वाले रतनलाल हैं न···

—कौन?

—जिनके यहां हम सब कुम्भ पर गए थे···जहां ठहरे थे···मुन्नी कुछ याद दिला रही थी—उनकी लड़की थी न सुशीला···

—हां···विश्वनाथ को कुछ याद आया था; फिर याद करते हुए बोला था—पर मैं तो कुम्भ पर गया नहीं था···मैं तो हिन्दी-प्रचारकों की मीटिंग में तब इलाहाबाद गया था। वो मीटिंग जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन में हुई थी···

दादा में से कोई भी आग दे देता···पर खैर···जो होना था हो गया था। बाबूजी को यह भी नही बदा था कि उनका इकलौता लड़का उन्हें आग दे पाता···मां तो बचपन में ही मर गई थी और बाबूजी ने विश्वनाथ के कारण ही दूसरी शादी नहीं की थी। सुना था उसने कि बाबूजी हमेशा यही कहके इनकार करते रहे—सौतेली मां के आते ही बाप भी सौतेला हो जाता है···मैं अपनी शादी नहीं, अब अपने विस्सू की ही शादी करूंगा···

और विश्वनाथ अपने बाबूजी को यह संतोष भी न दे पाया···आखिरी वक्त में उनके पास तक नही पहुंच पाया···उन्हे आग तक नही दे पाया। कितना दुख लेकर गये होंगे बाबूजी···क्या उनकी आत्मा को शांति मिली होगी···

कालीकट मे उस रात अपने कमरे में बैठा-बैठा विश्वनाथ बुरी तरह रोया था—बाबूजी···मुझे क्षमा कर देना···बाबूजी मुझे क्षमा कर देना · तुम्हारी आत्मा को शांति नहीं मिलेगी तो मैं भी कभी शांति नही पाऊंगा···

और तब बाबूजी के नाम का एक दीया जलाकर वह रात भर बैठा रहा था—दीये को देखता हुआ, जैसे वह बाबूजी को देख रहा हो!

उसने देखा था जैसे बाबूजी कुछ देर तक लौ के रूप में चमक कर धीरे-धीरे बुझने लगे हों···आंसू भरी आंखो से वह रात उसने ऐसे ही काट दी थी! सुबह दीया बुझा था, और उसकी पतली-सी धुएं की लकीर जब ऊपर उठकर शून्य में विलीन हो गई थी तो वह फूट-फूटकर रोया था···

तब से आज तक उसे बाबूजी दो ही रूपों में दिखाई देते हैं—वे खाट पर पड़े हैं! उनकी आंखें सूनी-सूनी हैं। चेहरे पर कुछ दर्द उभर आया है और उसकी बातों को सुनकर उन्होंने अपनी आंसू भरी आंखें छिपाते हुए मुंह दूसरी ओर घुमा लिया था, जैसे वे विमुख हो गए हों! उनकी कनपटी की नस बुरी तरह फड़क रही हो···

और दूसरा रूप था—धुएं की लकीर का! जो ऊपर उठकर शून्य में विलीन हो गई थी!

और अब इसमें बन्ने मियां का चेहरा और जुड़ गया है—बन्ने मियां पीठ मोड़कर घुटनों पर बांहें रखकर बैठ गये हैं, जैसे उन्हें अब किसी से कोई लेना-देना न हो।

कितनी और यादें हैं! इस अड़सठ बरस लम्बी जिंदगी में।

धूल के बगूले अब भी उठ रहे थे। तपिश कम नहीं हुई थी। चींटियों ने दूसरा रास्ता बना लिया था।

विश्वनाथ ने सारा सामान संभाला, अब तो चलना ही होगा। शाम तक तो गांव हर हालत में पहुंचना है।

'हिंदी मंदिर' तो खुलना ही है।

3

आखिर विश्वनाथ उठकर चल दिया। उसे वह दिन याद आया, जब बड़े दादा की बारात आई थी। उन दिनों वह वर्धा से वापस इलाहाबाद में हिन्दी कैम्प के लिए पहुंचा था···

हिन्दी प्रचारकों का कैम्प चल रहा था। वह साहित्य सम्मेलन के पीछे वाले स्कूल के एक कमरे में ही रह रहा था। कैम्प तो छः महीने चलना था। ताऊजी वहीं उससे मिलने आए थे। वे आकर बहुत प्यार से मिले। लगता ही नहीं था कि कहीं कुछ हुआ भी था। शायद ताऊजी अब निश्चित हो गए थे। दोनों ही तरह से। एक तो वे यह जान गये थे कि विश्वनाथ अब पूरी तरह से अपने काम में वझ गया है, उसे घर-गांव से मतलब ही नहीं रह गया है, इसलिए खतरा नहीं है। दूसरे वे जानते थे कि वे खुद पक्के पल्ले पर हैं···अब विश्वनाथ चाहे भी तो जमीन-जायदाद के बारे में कुछ कर नहीं सकता।

एक मिनट के लिए विश्वनाथ तय नहीं कर पाया था कि ताऊ जी के साथ क्या सलूक करे? पर खून में कुछ अजीब खसलत होती है। यों विश्वनाथ चाहता, तो भी नाराज नहीं हो सकता था। यह उसकी आदत में ही नहीं था। हां, वह अपने ठण्डेपन से उबर नहीं पाया। यह अच्छा ही हुआ कि ताऊजी ने कोई नाटक नहीं किया। उन्होंने बात ही ऐसे शुरू की जैसे कभी कुछ हुआ ही न हो। सीधे बोले—कैसे हो विश्वनाथ?

—जी, ठीक हूं!

—तुम्हारे बड़े दादा की शादी है···

—जी, मुझे मालूम है!

—हां, मुन्नी का खत आया था···वह तो नहीं आ पाई। उसी ने लिखा था कि इन दिनों तुम इलाहाबाद में होगे। कालीकट-कोचीन में होते तब तो खैर तुम क्या आते ··हमने सोचा, जहां हिन्दी का कार-बार होता होगा, वहीं तुम टिके होगे। पूछने से तो पता चल गया कि तुम यहीं स्कूल में ठहरे हो···बारात यहीं पास चमेलीदेवी धर्मशाला में ठहरी है। आज शाम शादी है, कल रात विदा···मैं तुम्हें बुलाने आया हूं···तुम्हें बारात के साथ वापस मैनपुरी भी चलना है···कब से घर नहीं देखा, दो दिनों की छुट्टी ले लो···ताऊजी बोले थे।

और वह ताऊजी को न नहीं कह पाया था।

शाम को जब बारात के साथ वह रतनलाल के घर पहुंचा था तो उसे वे दिन भी याद आए थे, जब सब लोग कुम्भ स्नान के लिए आए थे और उन्हीं के घर ठहरे थे। वह तब भी साहित्य सम्मेलन में ही था, और डाट के पुल से कटरा जाता रहता था। एकाध बार कटकटाती सर्दी में वह बांध के उस पार भी गया था जहां रतनलाल की मां कल्पवास कर रही थीं। उन्हीं की कुटिया में सामान रख के सब लोग गंगा स्नान के लिए जाया करते थे। सुबह-सुबह गंगा के पानी से भाप उठती रहती थी। एकाध बार तो महावत का कोप भी हुआ। सर्दी और बारिश···खून तक जम जाता था। पर लोगों की श्रद्धा की बलिहारी ··कटकटाती सर्दी में ही डुबकी लगाते थे।

गंगा किनारे शंख और घंटा लिए पुरोहितों के दल भी चलते रहते थे। कई वृद्धों को तो डुबकी लगाते ही मुक्ति मिल जाती थी। जहां डुबकी लगाई वहीं सर्दी के कारण ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे। शंख और घंटे बजने लगते थे ··और मुक्ति पाने वाले के भाग्य से बाकी लोग कुढ़ने लगते थे! कैसी थी यह मुक्ति ·· कैसी थी यह श्रद्धा···यह तो आत्महत्या थी···धर्म के नाम पर···

···झोले की तनी टूट जाने के कारण विश्वनाथ से बोझ संभल

नही रहा था'''फिर भी वह जैसे-तैसे चला जा रहा था। अब अगर रुकेगा तो नहर के पुल पर ही। चाहे जान ही क्यों न चली जाए, वह बीच में सुस्ताएगा नहीं।

किरमिच का जो जूता धूप में पड़े-पड़े अकड़ गया था, वह पसीने के कारण फिर मुलायम हो गया था। और बार-बार पैर से निकल रहा था। यह भी मुसीबत ही थी। पता नहीं किस साइत में निकला था विश्वनाथ। पटरी पर चलना मुश्किल था। बहुत कंकड़ थे। सड़क पर चलना भी मुश्किल था क्योंकि डामर पिघला हुआ था, जूतों को पकड़ता था। हर कदम पर एड़ी निकल जाती थी।

जगह-जगह पर आक के रेशमी फूल उड़ रहे थे। उनकी पकी बोंडियां फट गई थीं। पत्तियों पर धूल जमी थी जो बरसात में ही धुलेगी। कहीं-कहीं कटइया जरूर फूली हुई थी और जवासा हरा था ··

आखिर जैसे-तैसे वह नहर के पुल पर पहुंच ही गया था। एक बार आदमी थक जाए तो फिर बहुत जल्दी-जल्दी थकता है। कोसों पैदल चलने वाला विश्वनाथ दो मील चलकर फिर थका-थका महसूस कर रहा था। पुल पर छायादार पेड़ों के नीचे कुछ लोग रुके हुए थे। एक बारात भी पड़ी सो रही थी'''सिर्फ बहू बैठी जाग रही थी। पैरों में लच्छे और झांझरें पहने। हाथों में चूड़ियां और छागलें। कमर में करधनी और माथे पर बेना। वह उंगलियों को गुलेल की तरह घूंघट में फंसाये बड़ी-बड़ी कजरारी आंखों से इधर-उधर देख रही थी।

विश्वनाथ शायद थकान के बावजूद न रुकता'''पर उस बहू की कभी-कभी खनक उठने वाली छागलों या झांझरों की आवाज ने उसे मोहित कर लिया था। वह मन्त्रमुग्ध-सा बैठ गया था। कितनी प्यारी पर अजीब-सी थी यह आवाज'''उसने कभी सुनी ही नहीं थी। या कभी सुनी भी होगी तो उसका अर्थ दूसरा था।

एक बार विश्वनाथ ने बहू की ओर देखा'''उसने घूंघट में

अंगुलियों की गुलेल फंसाकर नहर की ओर मुंह किया था तो भारी घूंघट के भीतर से उसकी बड़ी-बड़ी साफ आंखें चमक उठी थीं और एक पल बाद ही मछली की तरह घूंघट में छिप गई थीं।

विश्वनाथ के मन में कुछ कौंध गया था। थैली बन गई जेब से उसने गांधी डायरी निकाली थी। उसमें तमाम मुड़े-तुड़े पर्चे भी रखे थे। एक-एक पर्चा खोलकर वह देखने लगा तो उन्हीं में वह पर्चा भी निकल आया था ''सुशीला का लिखा हुआ पर्चा ! सुशीला के हाथ की लिखावट में'''

घर का पता : रतनलाल का मकान, गुप्ता जी का अहाता, कटरा, इलाहाबाद।

ससुराल का पता : आपको मालूम ही है।

सुशीला तो अब सुशीला भाभी हो गई थी, आखिर क्यों दिया था सुशीला ने वह पता ? और 'सुशीला भाभी' के हाथ का लिखा हुआ वह पता देखता ही रह गया था आखिर क्यों दिया था यह पता उन्होंने ? चिट्ठी-पत्री का तो खैर कोई सवाल ही नहीं था''' पर यह पता देते हुए सुशीला भाभी ने इतना ही कहा था—कभी कभार राजी-खुशी की खबर दे सकें तो ठीक'''वह भी मन करे तो !

आखिर क्यों ? वह क्यों खबर देता''' क्यों खबर लेता ? शेष रह क्या गया था—लेने और देने को ? विश्वनाथ ने उस सफर के बाद न कभी खबर ली, न दी। सिर्फ इतना हुआ कि इतने बरसों में भी यह पर्चा फाड़कर फेंक नहीं पाया। कुछ ऐसा मोह हो गया था इस पर्चे से।

विश्वनाथ को खूब याद है शादी की। वह बारात के साथ मैनपुरी और फिर गांव तक जाना नहीं चाहता था पर ताऊजी ने बहुत कहा था – तुम्हारा क्या है ? अब की गए तो क्या पता कितने बरसों बाद आओ'''ऐसा निर्मोही नहीं होना चाहिए एक बार चलो ''घर-गांव देखके लौट आना ''।

विश्वनाथ ने ताऊ जी की ओर देखा था। मन तो बेहद उचाट

हुआ था'''पर उनकी कनपटियों के पास वही नस फड़क रही थी जो बाबू जी के फड़का करती थी। यह भी अजीब था। फड़कती नस को देखकर विश्वनाथ न जाने क्यों पिघल आया था। कहीं यह भी आखिरी बात न हो! कहीं यह भी आखिरी बार देखना न हो! ताऊ जी के लिए उसका मन पसीज आया था। पर वह पर-गांव जाने के लिए तैयार हुआ था बाबू जी के लिए। एक बार वह कोठरी देख तो आए जहां उन्होंने दम तोड़ा होगा'''।

जब बारात लौटने लगी तो बड़े दादा बहुत प्रसन्न थे। पांच बरस की मुनिया भी अपने बाबू की बारात में आई थी। बड़े दादा के अलावा मुनिया किसी के हाथ आती भी नहीं थी। बारात में कई बड़े बुजुर्ग भी थे। बड़े दादा उनका जरा ज्यादा ही लिहाज जता रहे थे। भाभी के लिए फर्स्ट क्लास का टिकट कटाया गया था। बाकी बारात थर्डक्लास में थी। बड़े दादा लिहाज के कारण भाभी वाले डिब्बे में जाकर बैठ भी नहीं रहे थे। शायद एक कारण मुनिया भी थी। वह उन्हें छोड़ती ही नहीं थी।

जब शाम उतर आई तो आगरा वाले मौसा जी ने ताऊ जी से कहा – बहू के पास डिब्बे में कौन है?

ताऊ ने बड़े दादा को वहीं बैठे देखकर कहा —हमारे खयाल से तो कोई नहीं है। बहू डिब्बे में अकेली है।

मौसा जी ने आगाह किया—यह तो गलत बात है। कोई खतरा हो जाए तो क्या करोगे'''इतना जेवर पहने बहू अकेली बैठी है।

बड़े दादा सब सुन रहे थे पर मुनिया के कारण बेबस थे। वह सो ही नहीं रही थी और न उन्हें छोड़ रही थी।

ताऊ जी ने किसी को भाभी के डिब्बे में भेजने के लिए इधर-उधर निगाह डाली तब तक मौसा जी ने मामला तय कर दिया— ऐ विस्सुनाथ! यहां क्या टांगें फैलाए पड़े हो। अगले स्टेशन पर गाड़ी रुके तो तुम बहू के पास बैठो जाके। अरे तुम तो देवर होते

हो···पूरी चौकसी रखना···इलाका खराब है···

अगला स्टेशन आया तो ताऊ जी ने टोका—जाओ विस्सुनाथ बहू के पास चले जाओ···।

उसने बड़े दादा की ओर देखा था। साथ में वे भी मुनिया को लिए हुए उतर आए थे और डिब्बे तक जाकर उन्होंने अपना हक जता दिया था। मुनिया चीखने लगी तो वे कुढ़ते हुए बारात वाले डिब्बे की ओर लौट गए थे।

और तब विश्वनाथ को सुशीला भाभी के साथ बैठना पड़ा था। वह समझ ही नहीं पा रहा था कि कहां बैठे। यह पहला मौका था, उसके लिए···और वह भी ऐसा···पर भाभी ने ही सब संभाल लिया था।

गाड़ी दौड़ रही थी। वह सकुचाया-सा एक किनारे बैठ गया था। कुछ देर बाद उसने महसूस किया था जैसे उसे भाभी की बड़ी-बड़ी आंखें देख रही थीं···उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह कहां देखे···भाभी की तरफ···डिब्बे की कांपती-हिलती दीवार की तरफ···या खिड़की के बाहर···या फर्श की ओर···

तभी भाभी की आवाज़ सुनाई दी थी—आप आराम से बैठ जाइए!

सुनते ही वह भीतर तक कांप गया। यह पहली बार हुआ था कि किसी लड़की ने सीधे-सीधे उससे कुछ कहा हो! वह थोड़ा-सा और ऊपर को सरक कर बैठ गया था। पूरी तरह अब भी नहीं बैठ पाया था।

तभी गाड़ी की चाल धीमी पड़ी थी और एक छोटे से स्टेशन पर आकर वह रुक गई थी। अब उसकी हालत और खराब थी। कि तभी बड़े दादा मुनिया को कंधे से चिपकाए थपकते हुए आए थे और बोले थे—सब ठीक है न विस्सुनाथ···किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं···।

विश्वनाथ की जान में जान आ गई थी। एकाएक वह

बोला—नही बड़े दादा ! सब ठीक है !

और अंधेरे प्लेटफार्म पर गिरती खिड़की की मरी हुई रोशनी में सुशीला भाभी ने अपने पति और बेटी को देखने की कोशिश की थी।

गाड़ी ने सीटी दी तो बड़े दादा बोले—ठीक से बंद कर लेना ···और वे लौट गए थे।

गाड़ी चली तो डिब्बे की मरी हुई रोशनी कुछ तेज हुई। भाभी ने घूंघट माथे तक सरकाकर अपने बाल ठीक किए थे और बोली थी—ठीक से बंद कर लीजिए !

—जी ! क्या ? वह एकदम अचकचा गया था।

—दरवाजा ! वे बोली थी और घुंघरुओं की तरह उनकी हल्की हंसी उसने सुनी थी।

तब उसने बहुत हिम्मत करके भाभी की ओर देखा था··· भाभी उसे ही देख रही थी···उनकी बड़ी-बड़ी आंखें जैसे उसे पहचान रही थीं। वह नजरें चुराकर कही और देखता तब तक उन्ही बड़ी-बड़ी आंखो मे देखते हुए सुशीला भाभी ने पूछा था—आप तो कालीकट-कोचीन में थे !

—हां ! वह आश्चर्य से बोला था।

—वहां समुन्दर है ?

—हां !

—वहां की बोली जानते है ?

—हां !

—तो वही की बोली में कुछ बात कीजिए ! सुशीला भाभी के लाल-लाल ओठो पर मुस्कराहट फैल गई थी। आंखों में कुछ चमक उभर आई थी।

—मुझे बहुत नही आती··· उसने कहा था।

—कैसे बोलते हैं ? बताइए जरा···

—समझ में आएगी ? कहकर पहली बार उसने ठीक से उन्हें देखा था।

—तो क्या हुआ ?

वह उन्हें देखता रह गया था। उनकी आंखों में कुछ था। पर अब होंठों पर मुस्कराहट नहीं थी। एक क्षण बाद वे उठी थीं तो चूड़ियों की आवाज़ लहरों की तरह आई थी। कुछ गहने भी खनके थे···हलकी गहरी-सी सांस की सरसराहट भी हुई थी। साड़ी का पल्ला भी सरक कर कुछ बोला था। पैरों में पड़ी पायल का एक घुंघरू भी बजा था···पर विश्वनाथ ने खुली आंखों से भी कुछ देखा नहीं था। गाड़ी भागी जा रही थी तब सुशीला ने कहा था—भूख लगी हो तो खाना खा लीजिए···रखा है !

तब उसे लगा था कि यह तो उसे पूछना चाहिए था। तो बोला—आप कुछ खा लीजिए···हमें भूख नहीं है···।

—अच्छा आप उधर बाथरूम में चले जाएं तो हम कपड़े बदल लें ! सुशीला ने कहा था—आप ऊपर सो जाइएगा···

सुनकर वह सकपका गया था। एक बात से उबरता था तब तक नई बात शुरू हो जाती थी। जब तक वह बात का सही जवाब सोचता था और उसके मुताबिक कुछ करना या कहना चाहता था, तब तक स्थिति ही बदल जाती थी। वह बाथरूम की बजाय दरवाजे की ओर बढ़ गया, सुशीला ने टोका—इधर···।

और तब वह निहायत बौड़म की तरह शरमाता हुआ बाथरूम में घुस गया था। सच पूछो तो बाथरूम में आकर उसे बड़ी राहत मिली थी। उसने कई बार खुलकर गहरी-गहरी सांसें लीं···कुछ-कुछ कांपते पैरों को जमाया। अंगुलियां चटकाईं और बाथरूम का नल चला कर देखा। वह वहीं घुसा खड़ा रहा—इस इंतज़ार में कि सुशीला भाभी कपड़े बदल कर बाहर निकलने के लिए आवाज़ देंगी। खुद निकलते उसे संकोच हो रहा था। उसे अंदाज़ भी नहीं था कि औरतों को कपड़े बदलने में कितनी देर लगती है। कहीं

गलत निकल पड़ा तो···।

कुछ देर बाद उसकी हालत फिर खस्ता होने लगी थी। सुशीला भाभी की आवाज ही नही आ रही थी। और अब तो वह और भी नही निकल सकता था। या तो अंदाज से ठीक वक्त पर अपने आप निकल आता या फिर···

तभी बाथरूम के दरवाजे के पास सुशीला भाभी की खिल-खिलाहट सुनाई दी थी। वे वहीं से कह रही थी—बाहर निकलने का इरादा नही है? वही सो गए क्या? और फिर वही खिल-खिलाहट।

यह कैसा अनुभव था? क्या आदमी और औरत इतने अपने होते हैं। इस तरह की छोटी-छोटी सीधी-सीधी बातें करते हैं! इतनी सच्ची-सच्ची बातें जो मन में घर करती जाती हैं, गांधी जी की बातों की तरह! उसका मन खिलने लगा था। कितना विश्वास-सा पैदा हो रहा था ··और कितना अपनापन। इस विश्वास में तो महक भी थी! सोंधी-सोंधी · जैसी गर्मी के दिनों में सुराही के पानी में होती है। प्यासी-प्यासी-सी तृप्ति!

उसकी समझ में कुछ और नही आया तो मुंह धोकर निकल आया। यह भी नही सोचा कि मुंह पोंछने के लिए कुछ भी पास नहीं है। पर बाहर तो आ ही गया था। अब समझ में नही आ रहा था कि क्या करे। कुर्ते की बांह से पानी पोंछने लगा तो सुशीला भाभी ने अपना तौलिया बढ़ा दिया—यह ले लीजिए।

एक क्षण के लिए उसका हाथ ठिठका था। सफेद तौलिये में सिंदूर की एक पुछी हुई रेखा खिंची थी। उसने एक कोने से अपना मुंह पोंछ लिया।

—ऐसे तो आपको रात भर बंद रखा जा सकता था! हंसते हुए सुशीला भाभी ने कहा था तो अनायास उसे भी हंसी आ गई थी। उसे हंसता देखकर वे और हंसने लगी थीं। कैसी लहरियां-सी पड़ रही थीं उनके शरीर में और कानों का कुण्डल कैसा हिल

रहा था ! उसने फिर भर-आंख उन्हें देखा। उनकी भवों को वह देखता रह गया। कैसी 'ई' की मात्रा की तरह खिंची हुई थीं और कानों की लवें छोटे 'उ' की तरह लग रही थीं। उसे इस तरह देखता देखकर सुशीला भाभी कुछ सकुचाई थीं। वे दूसरी तरफ देखने लगी थीं और उन्होंने अपनी साड़ी का पल्ला ठीक कर लिया था। फिर कुछ सोच कर वे गहने उतारने लगी थीं। हलका-हलका संगीत फिर फूटा था···।

वह बाहर देखने लगा था। उस समय गाड़ी किसी पुल से गुज़र रही थी और चांद बिलकुल खिड़की के सिरे पर लटका हुआ साथ-साथ भाग रहा था। साथ में भाग रही थी पेड़ों की एक काली लकीर।

वह अपने में डूबा हुआ था कि सुशीला भाभी की आवाज़ सुनाई पड़ी—ज़रा इसे निकालिए !

फिर वही छोटी-सी सच्ची बात। वे उसकी तरफ आधी पीठ घुमाए गर्दन मोड़े देख रही थीं। उनके हाथ पीठ पर अटके हार के हुक को टटोल रहे थे जो निकल नहीं रहा था। विश्वनाथ को उन्हें छूते हुए अजीब-सा रोमांच हो आया था। गर्दन के ऊपर बंधा हुआ जूड़ा कस्तूरी की तरह महक रहा था। नरम पसीजी हुई गर्दन पर रेशमी रोयें चिपके हुए थे। ब्लाउज की किनारी नहर के भीगे किनारे-सी लग रही थी। बगलों के पास पसीने से भीगा ब्लाउज का टुकड़ा छोटे से पानी भरे बादल की तरह छलक रहा था। खुली हुई आधी पीठ केले के पत्ते की तरह फैली थी। सब तरफ से फूटती गंध से वह बेहाल हो गया था, जैसे वह पके हुए गेहूं के खेत में उतर गया हो !

जैसे-तैसे उसने अटका हुआ कांटा खोल दिया था। उसका सिरा नाखून से सीधा करके उन्होंने उसे वहीं सीट पर रख दिया था। फिर उन्होंने बेलचूड़ियां उतारी थीं। कड़े भी उतारे थे और झूमर उतार कर रूमाल में बंधे चाबियों के गुच्छे को उसे देती हुई

बोली थीं—जरा बक्सा खोलिए। बड़ी वाली चाबी है!

उसने संदूक खोल दिया था। तरह-तरह के रंग-बिरंगे कपड़ों से भरा था संदूक। उसे वह संदूक नहीं, फूलों की डलिया-सी लगी थी। कोरे-कोरे कपड़े फूलदार कागजों के दस्ते की तरह रखे थे। वह एक-एक कपड़ा उलट-पलट कर देखना चाहता था। तभी सुशीला ने संदूक में छोटी-सी संदूकची निकालकर गहने उसमें रख दिये और संदूक बंद कर देने के लिए उससे कहा था। उसे यह सब बहुत अच्छा लग रहा था···उसे याद ही नहीं रहा था कि वह इसी दुनिया में है या किसी रहस्य लोक में उतर गया है।

गाड़ी बांस के जंगल से गुजर रही थी। बांस की पत्तियों की सीटियां बज रही थीं। लटके हुए बड़े से चांद को बांस की पत्तियां छुरी-सी छीलती जा रही थीं। जंगल जब और घना हुआ तो सीटियों की आवाज भी बढ़ गई थी···जैसे हजारों सांप एक साथ सी-सी कर रहे हों!

तभी सुशीला ने एकदम पूछा था—अच्छा, यह बताइए दो जन साथ जा रहे हों और रास्ते में सांप मिल जाए तो सगुन होता है या असगुन?

—हमने तो कभी सोचा नहीं···मालूम भी नहीं···विश्वनाथ ने कहा था।

—सगुन-असगुन कभी सोचा ही नहीं? कुछ और सोचा है कभी? सुशीला भाभी गौर से देखते हुए बोली थीं।

वह फिर उनके प्रश्नों के नागपाश में आ गया था। मुश्किल यही थी कि उसे उनके प्रश्न अच्छे तो बहुत लग रहे थे पर वह किसी का भी जवाब नहीं दे पा रहा था। पता नहीं आज उसे हो क्या गया था···इस बार वह जवाब देगा ही। यही सोचकर उसने कहा—सोचा क्यों नहीं ··बहुत-सी बातें सोचता हूं···

—तो बताइए सगुन होता या असगुन! कहकर वे मुस्कराने लगीं। फिर उसे निरुत्तर पाकर खुद ही बोलीं—सगुन होता है!

समझे आप !

और उन्होंने दूसरा प्रश्न दाग दिया—नागमणि देखी है ? कह कर वे इस तरह देखने लगीं जैसे इस बार जवाब ज़रूर मिल जाएगा पर वह तो फिर निरुत्तर था।

उनकी आंखें विस्मय से और बड़ी-बड़ी हो गई थीं—नहीं देखी ! नागमणि ! बहुत उजास देती है। सांप उसे कभी नहीं छोड़ता। अगर कहीं खो जाए या सांप उसे भूल जाए तो पागल हो जाता है ··फन पटक-पटक कर मर जाता है। रात में सांप अपनी मणि से खेलता है···कभी इधर-उधर चला भी जाए तो हमेशा अपनी मणि के पास लौटकर आता है ··

सुशीला कह रही थी और वह उसका मुंह देख रहा था। चांदनी की एक तिरछी लकीर सुशीला के पैरों के पास पड़ रही थी। महावर से रंगे उनके पैर···उसने पैरों को अच्छी तरह देखा··फिर खनकती चूड़ियों को देखा···उनमें लटके सेफ्टी पिन को देखा··· और माथे पर लगी बड़ी-सी सिंदूर की बिंदी को देखा।

वह कुछ भी कह नहीं पा रहा था। एक गहरी सांस लेकर रह गया। कुछ क्षणों के लिए सन्नाटा छा गया था। सुशीला भी अपने पैर समेट कर बैठ गई थी। गाड़ी भागी जा रही थी।

तभी गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ी। चटकती और कड़कड़ाती पटरियों का शोर हुआ और रोशनियां गुज़रने लगीं। कुछ क्षणों बाद ही गाड़ी किसी बड़े से स्टेशन पर रुक गई।

सुशीला ने घूंघट खींच लिया। पैरों को ढंक लिया और कोहनी तक पल्ला डाल लिया। खिड़की की ओर पीठ करके वह मुड़कर बैठ गई। विश्वनाथ की समझ में कुछ नहीं आया तो वह उठकर दरवाजे के पास खड़ा हो गया।

तभी बड़े दादा मुनिया को लेकर फिर आए थे। मुनिया सो गई थी। वह उनके कंधे से चिपकी थी। कुछ और न समझ पाकर वह दरवाज़ा खोलकर खड़ा हो गया और यह देखने लगा कि बड़े दादा

अगर भीतर आते हैं तो वह उतरकर बारातवाले डिब्बे में चला जाएगा।

तभी बड़े दादा ने मुनिया को उसे देते हुए कहा—इसे यहीं सुला लो।

विश्वनाथ ने मुनिया को लेकर सुशीला के पास लिटा दिया। तब एक क्षण के लिए उसने देखा था कि उनकी आंखों की कौंध घूंघट के भीतर से आई थी।

—आप यहीं आ जाइए?…मैं उधर चला जाता हूं! विश्वनाथ ने बड़े दादा से कहा तो एकाएक चूड़ियों के खनकने की आवाज उसने सुनी थी।

—नहीं-नहीं! मुनिया इनके पास सो रहेगी…तुम ऊपर सो जाना। बड़े दादा बोले थे—पूछ लो, चाय-वाय तो नहीं चाहिए?

उसने तो अभी तक उनसे कुछ पूछा ही नहीं था। पूछा तो फिर चूड़ियां खनकीं—यानी मतलब था—नहीं! चूड़ियों के खनकने का अभी-अभी उसने यही मतलब लगाया था।

बड़े दादा खिड़की की छड़ें पकड़े खड़े थे। वह सकोच में प्लेटफार्म पर उतर गया था। दूर से कनखियों से वह देखता जरूर रहा था। बड़े दादा उसी तरह छड़ें पकड़े खड़े थे और सुशीला भाभी उसी तरह घूंघट डाले पीठ किए बैठी थी। कुछ बात भी नहीं हो रही थी। होती तो सुनाई जरूर पड़ती।

सफर करने का वह आदी हो गया था। और किया ही क्या था उसने ज़िंदगी में सिवा सफर के…सच पूछो तो उसके घर का कोई दक्षिण भारत तक गया ही नहीं था। सब कुछ तो अपने कस्बे में ही पूरा पड़ जाता था। ज्यादा हुआ तो प्रयाग, काशी हो आए। घूमने गए तो आगरा का ताजमहल देख आए। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक!

बड़े दादा छड़ें छोड़कर यों ही खड़े थे। जब उनकी भी समझ में कुछ और नहीं आया था तो यों ही बोले थे—बिस्सुनाथ! कुछ

दिन रुकोगे घर पर ?

—नहीं दद्दा ! कल ही वापस लौटूंगा।

—इलाहाबाद में कितने महीने रहोगे ?

—अभी तो पूरे पांच महीने रहना है···

—उसके बाद ?

—शायद कालीकट ही जाना पड़े ! विश्वनाथ ने कहा था।

चूड़ियां फिर खनकी थीं !

विश्वनाथ एकदम चौकन्ना हुआ था। सचमुच चूड़ियां खनकी थीं या उसने ऐसे ही सुन ली थी खनक।

—कहां—कालीकट ही जाओगे ! बड़े दादा ने फिर पूछा था···असल में वे उसके जवाब सुन नहीं रहे थे, सिर्फ बातें करते जा रहे थे। उनका ध्यान भी कहीं और था।

—हां दद्दा! कालीकट ही जाऊंगा। वह बोला था और उसका ध्यान भी बड़े दादा की ओर नहीं था। उसका पूरा ध्यान खनक की ओर था।

चूड़ियां फिर खनकी थीं।

इस बार यह उसका भ्रम नहीं था।

बड़े दादा सिगनल की रोशनी की ओर देख रहे थे। वह गठरी बनी सुशीला भाभी की ओर देख रहा था और भाभी शायद घूंघट से मुनिया की ओर देख रही थीं।

तभी गाड़ी ने सीटी दी।

बड़े दादा लपककर बारात वाले डिब्बे की ओर चले गए। वह सुशीला भाभी के डिब्बे में आ गया और उन्होंने घूंघट उठाकर सिर खोल लिया। हाथ-पैरों को सहज करके गहरी-सी सांस ली और सीधी होकर बैठ गईं।

वह कुछ देर यों ही खड़ा रहा। तो सुशीला भाभी ने बिना किसी भूमिका के ही पूछ लिया—अब आप फिर कालीकट-कोचीन लौट जायेंगे ?

—हां···पांच महीने इलाहाबाद। उसके बाद कालीकट! उसने कहा तो एक सिसकी सुनाई दी। उसने एकाएक भाभी की ओर देखा। वे उसे देख रही थी। शायद मुनिया सिसकी थी।

सुशीला भाभी तभी बोल पड़ीं—शायद रोते-रोते सोयी हैं!

एक क्षण की खामोशी खिंचती चली गई···

—आपको याद है·· एक बार आप हमारे घर आए थे? उन्होंने कहा था।

—हां, याद है। सब लोग कुम्भ नहाने आए थे···मैं अपने काम से इलाहाबाद आया हुआ था। विश्वनाथ ने बात को साफ करते हुए कहा था।

—आपको बड़ी जोर की मिरच लग गई थी! वे बोली थी, जैसे उन्हें सब पक्की तरह याद हो।

पर मिरच लगने वाली बात विश्वनाथ को याद नही थी। वह बोला—कुछ याद नही···

—आप भूल भी जाते हैं! क्यों? उन्होंने कहा था।

विश्वनाथ के पास कोई जवाब नहीं था।

—आप बाहर जा-जा के करते क्या हैं?

—राष्ट्रभाषा पढ़ाता हूं···

—सच्ची! कहकर वे हंस पड़ी थी।

विश्वनाथ की समझ मे नही आया था कि वे हंसी क्यों थी। राष्ट्रभाषा पढ़ाने मे हंसने की क्या बात थी?

—आप झूठ समझ रही है क्या? विश्वनाथ ने थोड़ी सी तकलीफ से कहा था।

—नही, झूठ क्यों समझूंगी!

—तो आप हंसी क्यों?

सुशीला भाभी ने उसकी ओर देखा और कहा—अगर हमे भी पढ़ा देते तो कुछ बुरा हो जाता?···सुशीला बहुत चुभती नजरों से उसे देख रही थी।

विश्वनाथ को कुछ अजीब-सा लगा।

तभी माथे पर आई लट हटाते हुए सुशीला फिर बोली थीं—आपको पता है···

—क्या ?

—पहले हमारे बाबूजी ने आपके लिए ही बात की थी···तभी, जब आप सबके साथ घर आए थे···उन्होंने न जाने कहां शून्य में देखते हुए कहा था।

—अच्छा···? उसने आश्चर्य व्यक्त किया था।

—अच्छा तो ऐसे कह रहे हैं जैसे कुछ मालूम ही नहीं··· सुशीला ने उलाहने के स्वर में कहा था—फिर बाबूजी मंजूरी का इंतजार करते रहे···उन दिनों हमारे घर में आपकी ही चर्चा रहती थी छोटी बहन तो मुझे 'कालीकट-कोचीन' कहकर हर वखत चिढ़ाया करती थी···कहकर सुशीला सकुचा गई थी···वह उसकी ओर देख नहीं पा रही थीं।

—सच कहता हूं···मुझे तो इस बात का कुछ भी पता नहीं··· शायद घरवालों को···कहते हुए उसका गला सूख आया था। वह शायद यही कहना चाहता था कि घरवालों को मेरे भविष्य पर भरोसा नहीं रहा होगा···

—सच्ची-सच्ची बताइए! आपसे उन लोगों ने पूछा भी नहीं? काफी दिनों बाद हमारे घर तो यही खबर आई थी कि आपने शादी करने से इनकार कर दिया है···सुशीला ने इस बार सीधे उसकी आंखों में देखते हुए कहा था—आप इस वखत अब झूठ बोल रहे हैं···

विश्वनाथ का पूरा शरीर सनसना कर सूखा-सा हो गया था। सूखते हलक और होंठों के कारण उसके शब्द निकल नहीं पा रहे थे। जैसे-तैसे उसने यही पूछा था—यह किसने कहा था ?

—आपके घरवालों ने !

विश्वनाथ सोच में पड़ गया था। नागपुर में कही मुन्नी की

बात बार-बार उसके सामने कौंध रही थी। जब मुन्नी ने अटकते-अटकते कहा था—इतनी ही बात नहीं है भइया। बात इससे भी बड़ी है···वह इलाहाबाद वाले रतनलाल हैं न···

तब विश्वनाथ के शांत मन में कई तूफान उठे थे। पर अपने को बेतरह संभालते हुए वह सुशीला से बोला था, खिसियानी-सी आवाज में—सच, मुझे बिलकुल पता नहीं···ताऊजी ने यही सोच कर मना कर दिया होगा कि मेरा क्या ठिकाना ! आज यहां, कल वहां · कोई काम-धाम तो है नहीं। शादी कर लूंगा तो कहां से खिलाऊंगा-पिलाऊंगा ··फिर जीभ से होंठ गीले करके वह आगे बोला था—और फिर ठीक ही सोचते हैं लोग···सचमुच हमारे भविष्य का क्या भरोसा ? है ही क्या हमारे पास ? हम तो गांधी जी के वालंटियर हैं···शहर-शहर गांव-गांव भटकते है·· हिन्दी पढ़ाते हैं ··

सुशीला गहरी सांस लेकर चुप हो गई थी। सिर्फ एक बार उसकी ओर गौर से देखकर फिर उसने बहुत देर तक उसे नहीं देखा था।

गाड़ी उसी तरह भाग रही थी। रात धीरे-धीरे टूट रही थी। वे दोनों काफी देर तक गुमसुम-से बैठे रहे थे। मुनिया सो रही थी। सुशीला कभी-कभी मुनिया की चोटी में बंधा रिबन लपेटती और खोलती रही। वह बैठा दांत से नाखून कुतरता रहा।

फिर एकाएक सुशीला उठकर बाथरूम में गई और कुछ देर बाद मुंह धोकर लौट आई थी और आते ही बोली थी—बहुत प्यास लग रही है !

विश्वनाथ ने सुराही से पानी लेकर उन्हें दे दिया था। जब सुशीला पानी पी रही थीं तभी उसे भी लगा था कि वह भी बहुत देर से प्यासा था···पर दिमाग में यह आया ही नहीं कि सुराही से पानी पी ले।

सुशीला ने गिलास खंगालकर सुराही पर औंधा दिया, तो उसने अपने लिए गिलास भरा।

—मुझसे कह देते !

उसने उन्हें देखा और गिलास भरकर पीते-पीते कहा—एक ही बात है !

—एक ही बात नहीं है··· कहकर सुशीला अपनी जगह बैठ गई थी।

पूरी रात यों ही अपनेपन और बेगानेपन में कट गई थी। एक पलक दोनों नहीं सोये थे। मुनिया पड़ी-पड़ी सोती रही थी। खिड़की के बाहर खेत सुरमई हो उठे थे। हवा में खुनकी बढ़ गई थी। डिब्बे की रोशनी फीकी पड़ गई थी। हवा में सुबह की गंध भरी थी। पेड़ों के पीछे का आकाश सुनहरा हो आया था। और तब अपना जूड़ा खोलते-खोलते सुशीला बुदबुदायी थी—पूरी रात बीत गई।

सुशीला ने सब बाल खोल लिए थे। खिड़की से आती हवा से वे धीरे-धीरे उड़ रहे थे और पूरे डिब्बे में उनकी महक भर गई थी। विश्वनाथ मंत्रमुग्ध-सा देख रहा था। उंगलियों से बालों को अलग करते-करते सुशीला ने कहा था—बहुत कोयला भर गया···

वैसे सुशीला ने साड़ी का पल्ला सिर पर डाल लिया था पर उसके बाल कंधे पर फैले हुए थे। उन्होंने ढीले-ढीले लपेटकर बालों को एक ओर डाल लिया था। वे बाल उसे बहुत अच्छे लग रहे थे। मन हो रहा था कि एक बार छूकर देख ले। पर मन की बात उसने कब मानी है ? रातभर जागने के बावजूद वह सूखे कपड़े-सा हलका महसूस कर रहा था, निचुड़ा और सूखा हुआ।

सुशीला घुटनों पर ठोढ़ी टिकाये बैठी थी। धीरे से उसने पूछा था—आप कल लौट जाएंगे ?

—हां ! और क्या करूंगा ! वह बोला था।

इस बार चूड़ियां फिर खनकी थीं। सुशीला ने हवा में उड़ती लट को बालों में फंसा दिया।

—वैसे अभी काफी दिनों इलाहाबाद में रहूंगा।

—पता नहीं ये लोग बिदा कब करेंगे ? सुशीला ने कहा था।

—आपको क्यों जल्दी होगी ! वह बोला तो सुशीला ने आंखें बड़ी-बड़ी करके उसे देखा था और उसके होंठों में ऐसी स्मित छा गई थी, जैसे कह रही हो—सीधे नहीं हो तुम ! लेकिन यह कहने के बजाय उसने कहा था—कागज है आपके पास ?

जेब में हाथ डालकर खाली निकालते हुए उसने जता दिया था कि नहीं है । तब अपने पर्स से एक टुकड़ा कागज और कलम निकाल कर सुशीला ने पुर्जे पर कुछ लिखा था और उसे थमाते हुए बोली थी—शायद आप इलाहाबाद का पता ही भूल जाएं···सब कुछ भूल जाते हैं न···

कागज का वह पुर्जा उसने लेकर पढ़ा था । लिखा था—

घर का पता : रतनलाल का मकान, गुप्ता जी का अहाता, कटरा, इलाहाबाद।

ससुराल का पता : आपको मालूम ही है।

उसने उनकी तरफ देखा तो वे बिना देखे इतना ही बोली थी—कभी-कभार राजी-खुशी की खबर दे सकें तो ठीक···वह भी मन करे तो !

पर वह क्यों खबर देता ? क्यों खबर लेता ? अब रह क्या गया था ? लेने और देने को ?

इतने बरस पहले का पर्चा ! उसने उसी तरह तह करके गांधी डायरी में रख लिया। सामने देखा—बारात अब भी सो रही थी। वह बहू अपने घूंघट में गुलेल की तरह अंगुलियां फसाये न जाने कहां और क्या देख रही थी। नहर का पानी पतला-पतला-सा बह रहा था। पेड़ों की छाया जगह छोड़ गई थी···

उफ्···कितना लम्बा सफर···विदा के बाद सुशीला अपने घर इलाहाबाद भी आई होंगी; पर विश्वनाथ मिलने नहीं जा पाया था। क्या करता जाकर ? किसलिए ?

उस दिन, इतने बरस पहले जब गाड़ी के डिब्बे में याद दिलाते

हुए सुशीला ने कहा था—आपको वड़ी जोर की मिरच लग गई थी?
तव तो उसे सचमुच याद नहीं आई थी कि मिरच लगी थी या नहीं
पर आज सव कुछ ठीक-ठीक याद आ रहा था—सचमुच कितनी
जोर की मिरच लगी थी···

वह वैठा-वैठा यही सोचने लगा कि ऐसा क्यों होता है? कुछ
दिन पहले की वातें याद न आएं पर फिर सव कुछ एकाएक याद
आने लगे। एक-एक वात ··एक-एक पल···एक-एक सांस।

तव से कितनी गांधी डायरियां वदलीं, लेकिन ये पर्चे नहीं
वदले। कितनी रातें वीतीं—अच्छी और वुरी पर वह रात वहीं
अटकी रह गई। वह रात तो नहीं ही वीती। कालीकट-कोचीन
वाला चलता ही रहा···तव वहां से लौटने के वाद काफी दिनों तक
सुवह उस तरह शुरू नहीं हो पाई जैसे होती थी। वहुत दिनों तक
सुवह कंधे पर रेशमी वाल विखराये आती रही··और वह अपनी
मुंह चढ़ी लाइन भी नहीं गुनगुना पाया—उठ जाग मुसाफ़िर भोर
भई अव रैन कहां जो सोवत है!

लेकिन फिर धीरे-धीरे सव छूटता गया। सुवहें वदलने लगीं
या उसने ही सुवहों को वदलना ज़रूरी समझा था। फिर वह गाने
लगा था—अव रैन कहां जो सोवत है? अव रैन कहां जो सोवत
है? यह पंक्ति ही उसे चलाने लगी थी···हमेशा की तरह···और था
भी क्या?

···अव रैन कहां जो सोवत है···वस, एक ही आवाज़ रह गई
थी—उठ जाग मुसाफिर भोर भई···और मुसाफिर चलता रहा···
छप्परों के नीचे पाठशालाएं खुलती गईं···और उन कच्चे कमरों से
आवाज़ें आती गईं—अ···आ···इ·· ई···वस, यही स्वर गूंजते
गए।

गांधी डायरी खोलकर उसने वह पर्चा फिर देखा था—नाग-
मणि! मणि उजास देती है।

आखिर वह उठा। फिर जैसे-तैसे उसने सामान संभाला और

सूख गए जूतों को पैर में डालकर चल दिया। वह बहू वहीं छूट गई। नहर भी छूट गई···अब गांव तक कोई जगह ऐसी नहीं थी जहां रुककर दम ले पाएगा···वही निचाट सूना मैदान—वही उड़ते हुए बगूले···तपती हुई धूल भरी सड़क ··लगता था सूरज रात में भी तपेगा। हवा इतनी गरम हो गई थी कि रात भर में सिरा नहीं पाएगी ··सारी रात लू चलती रहेगी।

कुछ दूर गया था तो सड़क कूटने वाला इंजन गुबरैले की तरह लुढ़कता चला आ रहा था···उसकी छोटी-सी चिमनी से रह-रहकर धुआं निकल रहा था···

विश्वनाथ का मन फिर उस धुयें की आवाज़ में अटक गया। चिमनी से निकलता धुआं बोल रहा था—प···फ···ब···म···प ···फ···ब···म ··

और पसीने से फिर भीग गये उसके किरमिच के जूते भी आवाज कर रहे थे—बायां···दायां···बायां···अब घर चल··· लेकिन घर कहां ?

अ···आ···इ···ई··धुआं बोलता है—प···फ···ब···म··· और उसे जल्दी-से जल्दी गाव पहुचना है। हिंदी मंदिर का उद्घाटन करना है।

बाकर मिस्त्री ने तस्वीर के लिए कार्निस बना दी होगी, जिस पर बीचोबीच वह रखी जाएगी। हिन्दी मंदिर में पूजा होगी और अब इतने अपने ही गांव में राष्ट्रभाषा प्रचार शुरू हो जाएगा।

कितना अजीब है कि वह दूर-दराज इलाकों में जाकर हिन्दी का प्रचार करता रहा और हिन्दी इलाकों से ही हिन्दी मिटती गई ··अब फिर सब कुछ अस्सरे-नौ शुरू होना है ··अपनी भाषाओं को आना ही है···नहीं तो यह देश गूगा रह जाएगा।

उसके पैर जल्दी-जल्दी उठने लगे थे—किरमिच के जूते फिर बोलने लगे थे।

जूते फिर पसीने से भर गए थे। गांव पहुंचते-पहुंचते तो लस्त हो जाएगा···

लेकिन मन में जो कील करकती है, उसका क्या करे? वह तो उत्तर या दक्षिणवाला रह ही नहीं गया था। वह तो सिर्फ देशवाला था···पर एकाएक यह हुआ क्या था? कैसे लोगों के मन वदल गए थे? क्यों वे उसे नकारा पाने लगे थे··

···दक्षिणापथ में भी ऐसी ही लू चलने लगी थी और वह झुलसने लगा था। कहते तो अच्छा नहीं लगता पर जो वचन-वेल सवने मिलकर लगाई थी, उसकी जड़ें खोद डाली गई थीं, तो मन उचाट हो गया था। क्या इसी के लिए ज़िंदगी खराव की थी? क्या इसी के लिए घर-वार छोड़ा था? जोगी वने-वने क्या इसीलिए घूमा था ··यह धूनी आखिर क्यों रमाई थी?···हंसा उड़ चल देस विराने···

मुन्नी ने कितना कहा था—आखिर उमर वढ़ेगी भइया! तव क्या करोगे···

वदन सचमुच थक गया था। वदन तव और भी जल्दी थकता है जब यह मन टूटता है। अव तो वह कहीं का नहीं रह गया···न दक्षिण का, न उत्तर का! न घर का न घाट का। नुसरत ने ही तो कहा था—'यारां दकन किसू सूं वफाई न करें' तो दकन छोड़ उत्तर ने कौन-सी वफाई की है तेरे साथ ··घर लौटकर ही क्या मिला··· कहां है हिन्दी? कहां है अपनी भाषा? लोगों ने यहां भी वचन-वेल की जड़ें उखाड़ डालीं। जव यहां से गया था, तव तो सव ठीक था—लौटकर आया तो कहीं कुछ भी ठीक नहीं है···यह आखिर हुआ क्या है? ये अपने ही लोग अपनी भाषा वोलते हुए भी गूंगे कैसे हो गए···कैसे गूंगे हो गए··· मन में आता है, चीखकर कहे—गांधी वावा! क्या तुम इसीलिए हमें होम गए?

हांफकर विश्वनाथ छोटी-सी पुलिया पर वैठ गया था। पुलिया की ईंटें तप रही थीं। जैसे वह जलते पजावे पर वैठ गया हो···

चलो, जो कुछ हुआ, हुआ··· 'उपकार है गर फिर वो बुराई न करें' इतना ही उपकार क्या कम होगा कि वक्त और बुरा बर्ताव न करे!

इतने लम्बे बरस! बीस बरस की उमर में धूनी रमा के निकला था···तब तक भी कुछ नहीं बिगड़ा था, जब तक वर्धा में था · नागपुर में था।

एक दिन पढ़ाकर लौटा था तो साथी प्रचारक ने रास्ते में ही कहा था—एक साहब बहुत देर से इंतजार कर रहे हैं···तुम्हारे कमरे में बैठा दिया है···

विश्वनाथ को अचरज हुआ था! कौन हो सकता है। उससे मिलने कौन आ सकता है? कमरे पर पहुंचा तो देखा जगदीश उसका सारा सामान बांध बूध कर बैठे हुए हैं!

—अरे ये क्या? उसने पूछा था।

—तुम्हें यह सब छोड़-छाड़कर घर चलना है! तुम्हारी बहन जी का हुक्म है। बिस्तरा गोल करके जबरदस्ती उठा लाओ! जगदीश ने कहा था।

और जब तक कि वह कुछ कहे जगदीश ने कोने में पड़ीं उसकी चप्पलें भी कागज़ मे लपेट कर बिस्तर मे घुसेड़ दी थी—जो पहने हो, वही पहन के चलोगे न?

—लेकिन बात तो सुनो···वह बोला था।

—जो कुछ सुनाना हो, वहीं सुनाना। मुझे कुछ भी सुनने का हुक्म नहीं है! जगदीश ने बाकी सामान समेटते हुए कहा था।

जगदीश तो सब कुछ तय करके आए थे। कुछ भी सुनने के मूड में ही नहीं थे, वह मुश्किल में फंस गया था। क्या करे, क्या न करे? इस तरह तो जाना हो नहीं सकता···आखिर इतना गैर जिम्मेदार कैसे हो सकता है···कल की कक्षाएं हैं···जीवनभर के लिए दिया हुआ वचन है। एक मिशन है···

—आप कान खोल के सुन लीजिए! जगदीश ने साहबों की तरह कहा था—मैंने और आपकी बहन जी ने सब कुछ अच्छी तरह

सोचने समझने के वाद यह तय पाया है कि आपको इस तरह अपनी ज़िंदगी वरवाद करने की इजाज़त नहीं दी सकती ! सामान वंध गया है, अव आप ये मिशन-फिशन की वातें छोड़िए और हमारे साथ प्रस्थान कीजिए ! समझे आप ! आज से आप हमारे साथ रहेंगे…

वात गंभीर हो गई थी। विश्वनाथ जिसे मज़ाक समझ रहा था, वह वात टेढ़ी नज़र आने लगी थी। एकाएक वह इस ममता भरी चपेट में आ जाने के लिए तैयार भी नहीं था…आखिर यह छोटा काम तो है नहीं, जो वह कर रहा है? इसमें ज़िंदगी वर्वाद करने जैसी कौन-सी वात है? यह लोग समझ क्यों नहीं पाते कि यह सुकारथ है…

—चलिए ! सोच क्या रहे हैं? जगदीश अपनी रौ में थे।

—इस तरह मैं कैसे जा सकता हूं ! वह कुछ सख्ती से वोला था।

—तो किस तरह चलेंगे? जगदीश ने वहुत अधिकार से कहा था।

—मैं नहीं जा पाऊंगा ! आखिर वह वोल ही पड़ा था। और कोई चारा नहीं था।

—आप नहीं जाएंगे? आदरसूचक वाक्य में कुछ व्यंग्य, कुछ अपनेपन और कुछ ज़िद तथा कुछ आज्ञा का पुट देते हुए जगदीश वोले थे और एक क्षण के लिए उन्होंने टकटकी वांधकर उसे देखा था, जैसे इससे विश्वनाथ का इरादा वदल जाएगा।

पर विश्वनाथ तो अपनी जगह अटल था।

तव जगदीश एकाएक ठुकराए हुए प्यार की चोट से तिलमिला कर उवल पड़े थे—आखिर तुम वहन-भाई ने मुझे समझा क्या है? मैं उल्लू का पट्ठा हूं जो तुम लोगों के लिए जान देता फिरूं? तुम्हारी वहन के लिए तुम हो, तुम्हारे लिए हिंदी है… हुं… मुझे क्या है? मैं होता कौन हूं…कहते-कहते उनकी आंखों में पानी-सा छलक आया था।

—मुझे गलत मत समझो जगदीश ! उसने कहा था।

—सही तो सिर्फ तुम हो और तुम्हारी बहन जी ! सामसाह मुझे अधिकार देकर दौड़ा दिया···छोड़ना मत ! सामान बांध-बूंध कर हर हालत में उठा लाना भइया को···हूं···भाड में जाओ तुम और तुम्हारा सामान ! तुम जैसे पागलों के साथ माथा मारो तो आदमी खुद पागल हो सकता है ··पागल ठीक नहीं हो सकता ! तुम्हारे जो जी में आए करो···मैं अब नहीं आऊंगा ! कहते हुए जगदीश बहुत ज्यादा दुखी से लौट गए थे।

वह पुकारता ही रह गया था पर जगदीश ने पलटकर भी नहीं देखा था। उस शाम और उस रात विश्वनाथ बहुत रोया था। वह समझ ही नहीं पाया था कि जो कुछ हुआ था, वह ठीक हुआ था या गलत ! कितना उजला मन लेकर जगदीश आए थे। कितने अधिकार से। कितनी तकलीफ हुई होगी उन्हें उसके इस व्यवहार से··· पर···

और मुन्नी ने क्या सोचा होगा ? कि वह मुन्नी से ताऊजी का बदला चुका रहा है ? नहीं मुन्नी ! नहीं ! कितना कलपा था मन··· उसी समय आधी रात में जाकर मुन्नी और जगदीश से माफी मांग आने का मन हुआ था—भगवान के लिए मुझे गलत मत समझना! मुन्नी ···तू नहीं समझ रही है। मैं कितने बड़े काम में लगा हुआ हूं···यह सबसे बड़ा काम है ! पूरे देश को वाणी मिल जाए, इससे बड़ी बात क्या हो सकती है ?

लेकिन कलप लेने के बाद यही सोचा था कि कहीं मुन्नी और जगदीश की ममता ने मन कच्चा कर दिया तो क्या होगा ? बेहतर होगा कि कुछ दिनों बाद जाया जाए ··

पर कुछ दिनों बाद···वह दिन आया ही नहीं ! उसे बंगलौर जाना पड़ा था। बंगलौर से और दक्षिण···

पुलिया से वह उठा तो काफी देर तक पीछे का हिस्सा दहकता रहा था। जहां उस्तरा लगा था, वह जगह भी चिलक रही थी और कनपटी पर वहे पसीने का सूखा हुआ नमक किरकिरा रहा था। धोती की लांग पसीने से भीगकर भारी हो गई थी, जैसे गरम पुलिया ने उसका सत् निचोड़ लिया हो···

दुख तो सब बातों का होता है। ऐसा कौन है जो छूटे हुए अच्छे पलों को याद करके पछताता नहीं···पर आदमी वे पल जीने से इनकार तो नहीं करता···लेकिन वह तो सब पलों को छोड़ता आया है। इतना मलाल तो ज़रूर है। कभी जाना ही नहीं कि सुख होता क्या है? और जब सुख को जाना ही नहीं, तो यह दुख क्यों मिल रहा है? यह कैसा दस्तूर है? हंसा उड़ चल देस विराने···

इतने बरसों बाद लौटकर यहां की हिंदी मिल जाती, तो शायद ये सब दुख इतने सताते नहीं। यह तसकीन तो होता कि चलो कुछ तो हुआ है। लकवा मारे शरीर का कोई अंग तो जीवित हो पाया है। पर यहां तो पीठ करते ही पाला पड़ गया! उत्तरापथ के लिए इतना अजनबी तो पहले भी नहीं था, जितना अब हो गया है! कहां है अपना देश···जिसमें सांस ले सके!···अपनी तरह सहजता से जी सके! ये जड़ें कैसे कट गईं?

···क्यों इतने लोग जड़ों से उखड़ गए हैं? क्यों कुछ लोगों को सब कुछ मिल गया है और क्यों इतने लोगों को कुछ नहीं मिल पाया है? उस जैसे आदमी की ज़िंदगी तो और भी दूभर हो गई है · यह ठीक है कि वह खुद पेट के लिए संघर्ष करने नहीं गया था···पर जो पेट के लिए जी तोड़ मेहनत कर रहे थे, उन्हें भी क्या मिला? एकाएक यह कितनी चीलें आसमान से उतर पड़ीं कि सब के हाथों से झपट्टा मार कर सब कुछ उठा ले गईं! सब-के-सब लहूलुहान हथेलियां पसारे रह गए···यह चील भाषा तो सब कुछ छीन ले गई उनका···सबके सब गूंगे रह गए···

···तो यह हिंदी मंदिर क्या कर पाएगा? किसी को परवाह

ही नहीं है। पर भला हो बाकर मिस्त्री का, जिसने अपने एक रिश्ते-दार से हिंदी मंदिर के लिए चौथाई बीघा ज़मीन दिलवा दी... बाकर मिस्त्री न आता तो यह सब हो ही नहीं पाता।

चलते-चलते ध्यान आया कि बाकर मिस्त्री को पैसे भी देने होंगे...वह बिचारा भी तो जड़ से उखड़ा हुआ आदमी है, उसी की तरह। जिसका न कोई घर है न देश! उसने जेब टटोली कि पैसे देख ले। फतोई के जेब में पैसे थे, यह थकी हुई कोहनी ने बता दिया था। हिसाब तो आज ही चुकाना होगा। नहीं चुकाएगा तो मिस्त्री मुश्किल में पड़ जाएगा। उसे जाना है अपने देश!

कितने ज़ालिम हैं लोग...कुछ भी परवाह ही नहीं करते। अगर परवाह करते तो बाकर मिस्त्री को 'आर्डर' नहीं मिलता कि अपने देश जाओ। भारत में रुकने का तुम्हारा वक्त ख़त्म हो चुका है, बल्कि दो महीना ऊपर हो गया है... उसे पाकिस्तान जाना है...

बाकर कहता है—मुझे पाकिस्तान नहीं जाना है!

पुलिस का सिपाही और गाव का कारिंदा कहता है—तुम्हें जाना है!

यह क्या बात हुई भला? ये लोग बाकर मिस्त्री की मजबूरी समझते क्यों नहीं? क्यों नहीं समझ पाते कि मिस्त्री पेट की ख़ातिर गया था...कौन है ऐसा जिसके पेट ने उसे ख़ानाबदोश नहीं बनाया! यहां पेट नहीं भरता तो उसे यहीं रहने दो...और कुछ तो नहीं मांगता वह। आख़िर क्या ग़लती की है उसने? पेट के लिए गया था, पेट के लिए लौटकर आया है...

पर पुलिस वाले और कारिंदे तक तो उसकी बात चलती है, उनके आगे उसकी बात भी कोई नहीं समझता। न अपनी समझा पाता है। हाथ में अंग्रेज़ी लिखा काग़ज़ थमा देते हैं और थाने का हवलदार बिना पढ़े इतना ही बता देता है—वक्त ख़तम हो चुका है। तुम्हें पाकिस्तान लौटना पड़ेगा।

उसने मिस्त्री से कहा भी था—तुम्हें लौटकर आना ही नहीं

चाहिए था। आए हो तो भुगतो !

पर मिस्त्री हां-हूं किए वगैर गारे से ईंटें जोड़ता रहा था।

कैसी थी वह शाम···जव आंधी आई थी ! वाकर मिस्त्री दीवार की चिनाई कर रहा था। उसने खुद ही खूंद-खूंदकर गारा वनाया था। तसले में उठाकर खुद ही लाता था और कन्नी से लौंदा-का-लौंदा थपक कर वसूली से ईंट तराशता था। फिर डोरे की सीध में ईंट लगाकर ठकठकाता था···दीवार टेढ़ी न हो जाए।

—एक ईंट टेढ़ी लग गई तो पूरी दीवार टेढ़ी हो जाएगी विस्सुनाथ ! गारे को थपकते हुए वह वोला था।

तभी काली आंधी आई थी। चारों तरफ अंधेरा छा गया था। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। वे दोनों दीवार के पीछे दुवक कर वैठ गए थे।

तव उसने पूछा था—वहां भी ऐसी ही आंधी आती है वाकर ?

—हां··इतनी ही काली ! मिस्त्री वोला था।

—वहां भी गर्मियों में ऐसी ही लू चलती है ?

—हां !

—वहां भी सरसों फूलती है ?

—हां !

—वहां भी ऐसी ही सर्दी होती है ?

—हां !

—वहां भी वरसात में वीर वहूटी निकलती है ?

—हां !

—वहां भी जुगनू होते हैं ?

—हां !

—वहां भी मिट्टी ऐसी ही है ?

—हां !

—ववूल होता है ?

—पीले फूल भी खिलते हैं···फलियां भी निकलती हैं !

—और कनेर?

—वह भी फूलता है…उसके चिए का अंटा बनाकर वैसे ही बच्चे खेलते हैं जैसे हम-तुम खेलते थे! मिस्त्री बोला था।

—पिलिया बनाते हैं?

—वैसी ही पिलिया बनाते हैं…उसी तरह चिये फेंकते हैं और उसी तरह अंटे मे मारते हैं!

—और जो हारता है वह उसी तरह पिलिया में मूत देता है जैसे तू मूतता था? उसने पूछा था।

बाकर मिस्त्री जी खोलकर हंस पड़ा था।

कितने-कितने बरस पहले की बातें! जैसे सदियों पहले की बातें हों। परछाइयों की तरह सामने उभरती हुई" मिडिल स्कूल का मैदान उसमें खड़ा इमली का छतनार पेड़। उसके बाद मास्टर साहब की कोठी…तब दोनों मिडिल में साथ पढ़ते थे। गांव छोड़ कर आए थे…बस्ती में पढ़ने। गिरींद्र सिंह ड्राइंग पढ़ाते थे। बाकर बहुत तेज था ड्राइंग में…मेज कुर्सी की लाइनें फौरन खींच लेता था। सामने रखी सुराही का खाका ठीक-ठीक उतार लेता था। तब ड्राइंग मास्टर उसकी ड्राइंग की कापी देखकर दांत किटकिटाते थे --अरे तू जाहिल का जाहिल रह जाएगा…देख बाकर को। कैसा खाका उतारता है…

कितनी चोट लगती है मन में। क्या ड्राइंग मास्टर गिरीद्रसिंह ने शाप दिया था—जाहिल का जाहिल रह जाएगा!

जाहिल ही तो रह गया। आजादी के इतने बरसों के बाद। हेडमास्टर साहब ने ड्राइंग मास्टर को हुकुम दिया था--रानी विक्टोरिया की तस्वीर तैयार कीजिए…इन्सपेक्टर साहब मुआइने के लिए आने वाले हैं। स्कूल के हॉल में रानी विक्टोरिया की तस्वीर होनी चाहिए पर गिरींद्रसिंह ने भारत माता की तस्वीर बाकर से बनवाई थी।

इसी पर ड्राइंग मास्टर का तबादला हुआ था…

फिर वे मिले ही नहीं। पता नहीं कहां गए।

वाकर और वह—दोनों अकेले रह गए थे। ड्राइंग मास्टर के इस तरह चले जाने के बाद ड्राइंग से दोनों का मन ही हट गया था। तब दोनों इधर-उधर भटकने लगे थे। माथुर साहब की कोठी के आगे राजा का बाग था। राजा के बाग का माली समझता था कि वे दोनों शरीफे तोड़ने आते हैं···पर वे दोनों तो कनेर के फल तोड़ने जाते थे···चिये बनाने के लिए। गोलियों के लिए पैसे कहां होते थे? कनेर के फलों के चिये और उन्हीं में से बड़े चिये को अंटा बना लेते थे।

और तब पिलिया खोदकर सब खेला करते थे। यह अजीब था कि हमेशा वाकर हारता था। अंटा तो पुचकार कर फेंकता था, पर एक भी चिया नहीं मरता था। और सब साथी चिये मार लेते थे। तब वाकर बिगड़ता था। और जब कोई बस नहीं चलता था तो कुढ़कर पिलिया में मूत देता था ताकी कोई न खेल पाए।

साथी दूसरी पिलिया खोदते थे तो खिसिआया हुआ वाकर चीखता था—हम दूसरी में भी मूत देंगे!

—हम तीसरी खोदेंगे!

—तीसरी में भी मूतेंगे! वह कहता था।

और तब मारपीट हो जाती थी। वाकर की यह बात उसे भी अच्छी नहीं लगती थी, पर वह उसकी मजबूरी समझ लेता था। वह खिसिआया हुआ है, यह भी समझ लेता था। बात अच्छी लगे या न लगे—मजबूरी तो समझनी चाहिए। आदमी अगर भीतर से खिसिया उठे तो क्या उसके साथ ऐसा सलूक करना चाहिए? पाकिस्तान वह चला गया तो क्या हुआ? मन में उसी तरह खिसिआया हुआ तो है जैसे चिया हारने पर खिसिआया था!

लड़ाई थोड़ी देर को होती थी। दूसरे दिन फिर सब साथ खेलते थे। पर यह लड़ाई कैसी है? कोई वाकर को माफ ही नहीं करता। कोई समझाता ही नहीं कि वह खिसिआया हुआ है। उसे

क्यों सताते हो !

जब विभाजन हुआ तो बाकर का बेटा करीम सात-आठ साल का था। तभी दंगे हुए थे। विभाजन के साथ-साथ उन दिनों करीम अपने मामू के घर कासगंज गया हुआ था। दंगों के कारण न बाकर कासगंज जा पाया था, न अपने मामू के साथ करीम मैनपुरी आ पाया था।

तभी किसी ने बाकर को बताया था—पाकिस्तान बहिश्त है !

खुद उसे भी यही बताया गया था कि अपना राज अपनी भाषा अपना वंश आ जाएगा तो देश भी स्वर्ग बन जाएगा। दोनों ही तो स्वर्ग की तलाश में थे। अगर उसी तलाश में बाकर पाकिस्तान चला गया तो क्या ज्यादती हो गई। वह खुद भी तो दक्षिण चला गया था। उसके अरमान कहां पूरे हुए? एकाएक वह भी तो बाहर का आदमी हो गया था। प्रचार समिति की पाठ-शालाएं बंद हो गई थीं···लोगों ने छप्पर उखाड़ कर फेंक दिए थे। एक बार तो कमरे में घुसकर कुछ लोगों ने उस पर हमला भी किया था। तख्तियां कमरे में न होतीं तो काफी चोट आती। उठा-उठा के युवकों ने ऐसे मारे थे जैसे हथगोले फेंक रहे हों। वह तो कहो बच गया। वह समझ ही नहीं पाया था कि उसका कसूर क्या था? साथ-साथ तो वह प्रांतीय भाषा की पढ़ाई भी चलाता था। उसके लिए सभी भाषायें अपनी थीं। पहला काम तो यही था—अपनी सब भाषाओं का प्रचार···उसके साथ-साथ राष्ट्रभाषा का प्रचार। देश इतना समय खो चुका था कि दोनों काम साथ-साथ चलना जरूरी था। अपनी प्रांतीय भाषाओं के साथ-साथ पूरे देश के गाढ़े रिश्तों के लिए एक राष्ट्रभाषा तो जरूरी थी···और तब वह चीखता था—तुम अपने पैर में कुल्हाड़ी मार रहे हो! सोचो, याद करो—वशिष्ठ ने क्या किया था? ऋषि अगस्त्य ने उत्तरापथ से आकर तमिल को स्थापित किया था या नहीं? विश्वामित्र और अंगिरा जैसे ऋषियों ने क्या किया था? वे भी तो यही करके गए

थे जो प्रचारक कर रहे थे ! जब तक अपनी भाषाएं नहीं आतीं, तब तक जनराज कैसे आएगा ? तब तो उन्हीं का राज होगा, जो लाट साहब हैं ! जो जनता के नहीं हैं !

फिर जब दक्षिण में सब कुछ चौपट हो गया था तो वह देश की तरफ लौटा था और अपने ही घर में जब अपनी भाषा नहीं मिली थी तो वह भी तो खिसिआया था ! अगर बाकर खिसिआया हुआ है तो कोई समझ क्यों नहीं पाता···

उसके हिंदी मंदिर बनाने और बाकर के एक झोपड़ी डाल लेने में कौन-सा बड़ा फरक है ? आखिर बाकर कोई खेत जोतेगा-बोएगा तो दस आदमियों के लिए अन्न पैदा करेगा···एक पेट खुद खाएगा, तब भी तो नौ के लिए बचेगा ! अगर आदमी को काम मिले तो एक आदमी दस के लिए काम करता है। दस के लिए अन्न उपजाता है। दस के लिए कपड़ा बनाता है !

यही संतोष था उसे भी। वह दस को पढ़ाएगा···दस सौ को पढ़ाएंगे। सौ हज़ार को। हज़ार लाख को···और लाख करोड़ को···।

लेकिन सब चौपट हो गया !

एक बार मन में आया, नहर में डूबकर आत्महत्या कर ले··· पर ऐसी बुज़दिली में रखा क्या है। नहीं, वह हारेगा नहीं···जहां से जड़ें उखाड़ दी गई हैं, वहीं जड़ों को फिर रोपेगा। हिन्दी मंदिर बनाएगा। ज़रूरत हुई तो छोटा-मोटा आंदोलन चलाएगा। सरकारी दफ्तरों के सामने धरना देगा और चीख-चीख कर कहेगा—तुम्हारी भाषा हमारी समझ में नहीं आती ! हमारी भाषा में हम से बात करो। हमें विश्वास दिलाओ कि तुम हमारे हो ! वो नहीं सुनेंगे तो भूख हड़ताल करेगा ! सत्याग्रह करेगा ··अफसरों से लड़ेगा पर विदेशी भाषा नहीं चलने देगा···।

तहसील तक कितने चक्कर काटे कि एक टुकड़ा ज़मीन हिन्दी मन्दिर के लिए मिल जाए, पर किसी ने नहीं सुनी। आखिर

भागकर जिले के एमेले के पास गया।

—मेरी जेब में जमीन रखी है, निकाल लो विश्वनाथ जी! एमेले ने टके-सा जवाब दे दिया था। उनके आस-पास बैठे मुसाहिब हो-हो करके हंस पड़े थे। विश्वनाथ देखता रह गया था। उसका मुंह उतर आया था। जबान सूखने लगी थी। इतने बड़े गांधी जी भी ऐसे बात नहीं करते थे। वह उन्हें देखता रह गया था। शायद एमेले उसे और ज्यादा बेइज्जत करने पर उतारू थे। कहने लगे—देखा चौधरी साहब! ऐसे लोग चले आते हैं! इन्हें देखिए जमीन मांगने आए हैं! मुंह उठाए सीधे यहीं चले आते हैं…।

कहते हैं—तुम्हारा लड़का हिंदुस्तानी है, वो आ सकता है लेकिन यहां बस नहीं सकता !···क्या ज़माना आ गया है साला···बाकर मिस्त्री बड़बड़ा रहा था।

विश्वनाथ उसे देख रहा था। धीरे से बोला—कैसा लगता है तुम्हें वहां?

—कहां?

—पाकिस्तान में?

—अरे लगेगा कैसा, वह भी मुल्क है, यह भी मुल्क है···पर दोनों में इतना ही फरक है कि वो मुल्क है, लेकिन ये तो मेरा वतन भी है !···अरे विस्सुनाथ ! बंटवारे में बहुत मारे गए—हिंदू भी, मुसलमान भी, पर सच पूछो तो बंटवारा मुसलमानों का हुआ···वतन से बेवतन हो गए···।

और अपनी उसी रौ में बाकर मिस्त्री बोलता गया—अरे हम बैठे थे अटारी टेशन पर···भारत आने वाली गाड़ी छुटने के इंतजार में···कैसा लगता है सरहद पर बैठकर···तन वहां, मन यहां···कोई बता रहा था—यह अटारी है, सरहद के उस पार वाघा है··· यह पाकिस्तान है, उधर भारत है···उस खेत, वो पेड़ तक पाकिस्तान है, उसके आगे खेत और पेड़ भारत है···तब ही विस्सुनाथ एक चिड़िया उड़ के उधर चली गई···तो हम ने पूछा—ये चिड़िया कहां की है? सब्ब साले चुप हो गए !

विश्वनाथ और बाकर भी चुप हो गए। जैसे अब कहने को कुछ बाकी नहीं था। आखिर विश्वनाथ ने गहरी सांस लेकर कहा—अब क्या कहा जाए मिस्त्री···।

—वही तो, बहुत दौड़-भाग की साली···जो चिड़िया को मिल सकता है वो भी हमें नहीं मिलता। हमने पुलिस को बोला, हमें समझाओ, हम हियां क्यों नहीं रुक सकते, ···हमने कौन-सा जुर्म किया है—हमारे बाल-बच्चे हिया है। बस एक ही जवाब मिलता है— तुम और नहीं रुक सकते बाकी बात गिटपिट-गिटपिट कर लेते

हैं, क्या करे कोई ! वहां पाकिस्तान में भी साला यही हाल है, सीधे मुंह कोई बात नही करता। बस हुकुम चलाता है···जैसे हम जानवर होयं ! ···कहते हुए बाकर ने बीड़ी सुलगा ली और पूछा—क्यों बिस्सुनाथ, तुम आज ही मन्दिर चालू करोगे ?

—तुम रुक जाते तो कभी भी चालू कर सकता था ! विश्वनाथ ने कहा।

—देखते हैं साले रुकने देते हैं या नही। वैसे कल का तो दिन भर पड़ा है ! बाकर बोला—दिन में चालू कर लो, बहुत परेशान किया तो हम शाम की बस पकड़ लेंगे···।

—यह ठीक रहेगा ! विश्वनाथ ने कहा।

—एक बात बोलू बिस्सुनाथ ?

—बोलो !

—तुमने भी आपन जिनगी चौपट कर ली यार ! का रखा है इस हिंदी मंदिर में ! बाकर ने पूछा।

—तो और क्या करते···और कुछ सीखा ही नही···गांधी जी ने यही सिखाया···विश्वनाथ ने डूबी आवाज में कहा।

—सुना है बिस्सुनाथ, पंचायत भी ज़मीन नही दे रही थी तुम्हें···तुम्हारी भौजी ने पंचायत के नाम से दिलवा दी है यह ज़मीन !

—हमें तो नहीं मालूम !

—सुना था। कहकर बाकर उठ गया—सवेरे मिलते हैं···

रात धीरे-धीरे उतर रही थी।

विश्वनाथ का मन घबराने लगा। अकेले जी नही लगता··· फिर बाकर की बात याद आ गई—तुम्हारी भौजी ने पंचायत के नाम से दिलवा दी है यह ज़मीन···!

भौजी ! ···सुशीला भाभी ने यह मेहरबानी क्यों की ? किस लिए ?

विश्वनाथ सोचने लगा था और इतने बरसों बाद उसके पैर

उस घर की तरफ चल दिए थे, जो कभी उसका भी था···जहां उसके बाबूजी ने प्राण त्यागे थे, जहां से ब्याह कर मुन्नी नागपुर चली गई थी···जहां से ताऊ जी ने बाबू जी को बेदखल किया था···और गांव लौटने के लिए कोई रास्ता नहीं छोड़ा था···।

वह बाबू जी को आग तक नहीं दे पाया था···

कितनी बार बाबू जी उसकी यादों में आए···उनकी सूनी आंखें उभरीं···चेहरे पर दर्द उभरा, मुंह दूसरी ओर घूमा···जैसे वे विमुख हो गए हों, उनकी कनपटी की नस फड़कती हो···।

विश्वनाथ के पैर उस घर की ओर बढ़ते जा रहे थे—जहां सुशीला भाभी इलाहाबाद से ब्याह कर आई थीं, पहली भाभी के मरने के बाद जब दादा ने दूसरी शादी की थी···।

वह तो इतने बरसों तक इन तमाम घटनाओं से जुड़ा ही नहीं रहा था···वही कालीकट-कोचीन···अ···आ···ई···ई···

अब तो सिर्फ बची हैं—भौजी ! सुशीला भाभी—

घर के सामने पहुंचा तो एकाएक पहचानना मुश्किल-सा लगा···दो ही यादें तो हैं इस घर की, एक तब की जब घर छोड़ा था और एक तब की जब सुशीला भाभी ब्याह कर आई थीं···उसे भी कितने बरस हो गए···।

आखिर उसने सांकल खड़काई—खांसी के साथ मिली-जुली सुशीला भाभी की आवाज़ आई—कौन है ? किवाड़ खुले हैं···

—मैं हूं भाभी, कालीकट कोचीन वाला ! विश्वनाथ ने कहा और अंदर पहुंचा तो देखा, भाभी अपने लिए खिचड़ी पका रही थीं। अकेली जो थीं !

उसके लौटने के पांच-सात बरस पहले ही सब मर-खप गए—बाल-बच्चा कोई हुआ नहीं, सौतेली लड़की मुनिया ब्याह कर भदावर चली गई। नागपुर वाली मुन्नी घर आती-जाती नहीं, सो सुशीला भाभी अकेली नहीं होंगी, तो क्या होंगी !

वह उन्हें देखता रह गया—एक धक्का-सा लगा। क्या ये वही

रेलगाड़ी वाली सुशीला थी'''जब उन्हें देखकर वह समझ नहीं पाया था कि कहां देखे'''उनकी तरफ, डिब्बे की कांपती-हिलती दीवार की तरफ या खिड़की के बाहर या फर्श की तरफ'''

तभी आवाज आई थी—बैठिए लाला'''खड़े काहे को हैं!

लेकिन आज यह आवाज सुनकर वह भीतर तक कांपा नहीं था। आज भाभी की बांहों की चूड़ियां भी नहीं खनकी थीं। उनकी एक बांह में कांच की एक पुरानी चूड़ी पड़ी थी और उसी के साथ चांदी की दो चूड़ियां, दूसरी बांह खाली थी। आज तो उनके शरीर में वह लहरियां भी नहीं पड़ रही थीं—'ई' की मात्रा की तरह कसी हुई भौंहें भी गेहूं की सूखी बाली की तरह छितरा गई थीं। कस्तूरी की तरह कसा और महकता हुआ उनका जूड़ा भी बर्तन मांजने वाले जूने की तरह बदरंग और उलझा हुआ था। नहर के किनारे की तरह भीगी हुई ब्लाउज की किनारी भी आज गीली नहीं थी--उम्र की नहर सूख गई थी।

—खिचड़ी खाओगे लाला! भाभी की आवाज थी।

—नहीं, मैं खा चुका हूं! वह बोला।

—इतने दिनों से बस्ती में थे, आप घर तक नहीं आए। भाभी ने पूछा था।

—दौड़-भाग में लगा रहा—वह हिन्दी मन्दिर है न'''

—मुझे मालूम है! पर इतना वखत भी नहीं मिला कि एक बार देख जाते! भाभी का उलाहना ठीक था। वह अचकचाकर रह गया'''कुछ जवाब नहीं दे पाया, तो उसने बात ही पलट दी।

—सुना हिन्दी मन्दिर वाली जमीन आपने दी है!

—दी क्या है, पड़ी थी, हमने पंचायत से कहा दे दो! किसी काम आएगी! बेकार धरती और बेकार औरत की कोई औकात नहीं होती लाला'''कितना देती है धरती, कितना करती है औरत, लेकिन हासिल कुछ भी नहीं'''

अब तक दोनों अपनी-अपनी जगह थोक लगाकर बैठ गए थे।

भाभी ने बात का सिरा फिर पकड़ा था—ज़िंदगी में किसी सांप ने आपका रास्ता नहीं काटा···

विश्वनाथ को बरसों पहले कही भाभी की बात याद हो आई, उसे ही दोहराते हुए बोला—काट भी जाता तो कौन-सा सगुन होता भाभी !

—घर बस जाता ! इस वंश का कोई नामलेवा होता ! आपने हिन्दी का वंश चलाया, वह भी नहीं चला···उसे सांप सूंघ गया··· भाभी ने कड़वी बात कह दी थी।

—इसे लेकर तो मैं भी बहुत पछताता हूं भाभी ! उसने कहा था।

—पछताने की क्या बात है लाला···जो स्वारथ छोड़ के लगन से काम करते हैं, उनके हाथ यही आता है। तुम्हारे गांधी जी के हाथ क्या आया ?···क्या तुम्हारे गांधी जी पछताते हुए नहीं गए ? पर जो उन्हें करना था, लगन से कर गए···

—उन्हें तो खैर दुनिया याद करती है···

—लेकिन जिन्हें दुनिया याद नहीं करती, यह उन्हीं से चलती है ! आप ही बताओ कि···

—क्या ?

—जिस औरत ने गेहूं को पीसकर पहली बार आटा बनाया होगा, आटे में पानी मिलाकर गूंथा होगा और तवे पे पहली रोटी बनाई होगी, उसे कोई जानता है लाला ? जिसने पहली बार फूल-फल-पत्ती तोड़कर तरकारी बनाई होगी, उसे कोई पहचानता है लाला ? किसी ने उसका नाम याद रखा ?···बताओ आप ? भाभी कह रही थी।

और उसे फिर बरसों पहले की तरह लगा था कि भाभी कितनी छोटी-छोटी, सीधी-सीधी बातें करती हैं, इतनी सच्ची-सच्ची बातें जो मन में घर करती जाती हैं, गांधी जी की बातों

की तरह···

और वैसी ही सीधी-सच्ची बातें बाकर भी करता है···गांधी जी की तरह !

लेकिन दुबारा जब बाकर मिला तो न जाने उसे क्या हो गया था ! वह पागलों की तरह चीख रहा था—अरे सालो ! मैं इंसान नहीं, मैं तो पेड़ हो गया हूं ···मेरा नाम बाकर नहीं, मेरा नाम नीम है, आम है···मेरा नाम बाकर नहीं—बरगद है ! जित्ते नीम-बरगद लगे हैं बस्ती में, सब की छुट्टी करो, सब सालों को भेजो पाकिस्तान ···अरे बदमाशो, हम से सियासत करते हो ! ···तुम्हारी सियासत ने हमें मरवाय दिया···हम नहीं हैं बाकर ! आओ फुद्दू···अब साबित करो कि हम बाकर हैं ! अरे हम इस बस्ती के नीम हैं, बरगद हैं ! मेरा नाम बरगद है सालो !

विश्वनाथ ने देखा—बाकर पागलों की तरह चीख रहा था। पुलिस महकमे वालों के सामने आफत खड़ी हो गई थी। बाकर ने अपनी पहचान के सब कागज और पासपोर्ट जला दिया। जिला थाने में एस० पी० अपने थानेदार पर बिगड़ रहा था—तुमने इसे पासपोर्ट वापस क्यों दिया ? किसलिए दिया ? पासपोर्ट तुम्हारी कस्टडी में था !

—इसने एक मिनट के लिए मांगा सर ! बोला, कुछ नम्बर नोट करना है। हमने दे दिया। तभी गश्तवाला आया, हम उससे बात करने लगे, इतने में इसने बीड़ी सुलगाई और उसी तीली से जला दिया—पासपोर्ट और कागज भी ! थानेदार बता रहा था।

—बंद करो इस साले को हवालात में ! एस० पी० चीखा था।

तो अपनी मटमैली बड़ी-बड़ी आंखें तरेरता हुआ बाकर बोला था—ऐ ! हाथ मत लगाना हमें···हम अब किसी के नहीं हैं न उनके,

न तुम्हारे…हम तो अब बरगद हैं !…हम तो नीम हैं…हम तो बरगद हैं…

कहता हुआ वाकर अपने बाल नोंचता, कपड़े फाड़ता बाजार की तरफ भाग गया था।

पुलिसवालों ने वाकर को पागल करार दे दिया था और उसे लेकर अगले कदम उठाने में उलझ गए थे।

विश्वनाथ ज़िला थाने से लौटकर जब हिन्दी मंदिर पहुंचा तो रात हो चुकी थी। लालटेन जलाई तो देखा, एक कोने में दबा-सिकुड़ा वाकर बैठा था।

—तुम हमको पकड़ने आये हो ! पकड़ने आये हो ! डरा हुआ वाकर सोच-सोच के बोला था और उसने ईंट का गुम्मा हाथ में उठा लिया था।

—अरे नहीं वाकर…मैं विस्सुनाथ हूं ! विस्सुनाथ ! उसने कहा था।

—कौन साला विस्सुनाथ ! कउन साला विस्सुनाथ ! इस दुनिया का कोई साला विस्सुनाथ नहीं है !

—अरे सुनो तो वाकर…

—चोप्प साला…वह चीखा था और वहीं कोने में पसरकर लेट गया था। दीवार की तरफ मुंह करके।

रात बहुत भारी थी। उसे नींद नहीं आई। वह वहीं बाहर लेटा या टहलता रहा। अंधेरे में बबूल की सेंगड़ियां अजीब-अजीब से इशारे करती हिलती रहीं। नीचे सूखे हुए कांटों के झंखाड़ पड़े थे और बबूल की टहनी में बया का एक खाली घोंसला लटका हुआ था…रात बहुत अंधेरी थी।

जैसे-तैसे सुबह हुई। थोड़ी देर के लिए विश्वनाथ की आंख लग गई थी। उठा तो देखा—वाकर दिशा-मैदान से वापस लौट रहा

…बे…अलिफ से अल्लाह, बे से बरगद…अ…आ…अलिफ…बे …बे से बाकर…नहीं, बे से बरगद…

और तब विश्वनाथ ने उन चीखती स्लेटों और अक्षर ज्ञान की पोथियों की उन तेज आवाज़ों को दबाते हुए बहुत ऊंची आवाज़ में कहा था—नहीं…नहीं…बे से बाकर नहीं, बे से बरगद नहीं… बोलो बी से बनियन ट्री ! बी से बनियन…

उसी दिन से पूरी बस्ती में बात होने लगी थी कि हिन्दी मंदिर वाला विश्वनाथ न हिन्दी बोलता है न उर्दू, वह सिर्फ अंग्रेज़ी बोलता है…कोई सलाम करे तो गुडबाई बोलता है, कोई नमस्ते करे तो गुडमानिंग-गुड-ईवनिंग बोलता है !

फिर धीरे-धीरे बस्ती भी विश्वनाथ को भूलने लगी। किसको किसकी पड़ी थी। वह कहीं आता-जाता भी नहीं था। वहीं हिन्दी मंदिर में पड़ा रहता था। बस्ती का बनिया श्यामलाल कभी घूमता-घामता उधर निकल जाता और पूछता—का हाल हैं विश्वनाथ ? तो विश्वनाथ उसे अचरज से देखता हुआ जवाब दे देता—एवरी थिंग इज़ आलराइट…ह्वाई ?

कभी बस्ती में विश्वनाथ की बात उठती भी तो लोग यही सोचते थे कि किसी दिन अपने हिन्दी मंदिर में ताला डालकर विश्वनाथ कहीं चला जाएगा…

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह वहीं बस गया था और करीने से रहने लगा था। कभी बस्ती से साबुन या जरूरत की चीज भी लेने आता तो किसी से बात नहीं करता था। चीज खरीदकर चुपचाप लौट आता था। ज्यादातर वह हिन्दी मंदिर के बाहर
या नहर की ओर जाता हुआ दिखाई देता। नहर
और अपने कपड़े धोता था। जब तक
किनारे बैठा-बैठा कभी घास की
पानी में कंकड़ियां फेंकता रहता।
ही लौट आता और [illegible]

ने वाकर को कलाई से पकड़ लिया। वाकर ने बहुत हाथ-पैर मारे, हाथापाई भी की लेकिन थानेदार ने उसे नहीं छोड़ा था। थानेदार साइकिल से आया था और दो सिपाही मोटर से। थानेदार ने वाकर को दोनों सिपाहियों के हवाले कर दिया था।

इस हंगामे में करीम के घरवाले, वाल-बच्चे और रिश्तेदार भी निकल आए थे। तमाशबीन भी जुट गए थे। पुलिसवाले वाकर को पकड़े आगे-आगे चल रहे थे। घरवाले दुःखी और परेशान-से पीछे-पीछे चले जा रहे थे। सिपाही जब वाकर को पकड़कर ले जाने लगे थे, तो पलटकर वाकर ने उसे देखा और इतना ही बोला था— अच्छा सलाम !

और वहीं बबूल के पास अकेला खड़ा विश्वनाथ उन सबको मोटर अड्डे की तरफ जाते देखता रहा था···पता नहीं क्यों जब वाकर ने कहा था सलाम, तो विश्वनाथ ने कहा था···गुड बाई ! और जाते हुए वाकर को वहीं खड़े-खड़े विदा दे दी थी !

वहीं से विश्वनाथ ने थानेदार की साइकिल को मोटर की छत पर चढ़ते देखा था और देखा था कि वाकर को उन्होंने ढकेल कर मोटर में बैठा दिया था···वाकर मोटर में चढ़ने से कतरा रहा था बस वह इतना ही देख पाया···

मोटर अड्डे की आवाज़ें तो सुनाई नहीं देती थीं—पर इतना ही दिखाई देता था कि वाकर के घरवाले, करीम के वाल-बच्चे परेशान से कभी इधर जाते कभी उधर···वे सर ऊंचे कर करके मोटर की खिड़कियों की तरफ ताक रहे थे···

कोई आवाज़ नहीं थी···सिर्फ एक गूंगी फिल्म चल रही थी। गूंगे लोग कुछ कह रहे थे, हाथों की हरकत से कुछ बोल रहे थे। मोटर की खिड़कियों की ओर ताक रहे थे···बेआवाज़, बिना आवाज़···

पर विश्वनाथ कोठरी में लौटा तो वहां आवाज़ें ही आवाज़ें थीं —गूंजती आवाज़ें—अ···आ···अलिफ···बे···अ···आ···अलिफ

देता। धोती, कुरता, टोपी और गंजी। हिन्दी मंदिर की चौखट पर बैठा कभी वह अपने किरमिच के जूतों पर खड़िया चढ़ाता, एक टुकड़ा खत्म होता तो स्लेटों और पोथियों के बीच पड़े खड़िया के बड़े-बड़े टुकड़े उठा लाता और उन्हें उन्हें जूतों पर रगड़ता रहता।

कभी रात-बिरात या सुबह-सवेरे उसकी आवाज़ सुनाई भी पड़ती तो लगता कोई गूंगा बोलने की कोशिश कर रहा है···बस वह अंग्रेज़ी साफ-साफ बोलता था और अंग्रेज़ी बोलकर कुटिलता से मुस्कराता था।

उसका नहर पर जाना, नहाना, कपड़े धोना या बस्ती से सामान खरीद कर चुपचाप लौट जाना या अपने जूतों पर खड़िया चढ़ाते रहना—यह सब सामान्य-सा हो गया था। सभी के लिए।

इसीलिए जब विश्वनाथ तीन-चार दिन बिलकुल नहीं दिखाई दिया तो किसी ने कोई खास खयाल नहीं किया। लेकिन मुंशी कालीचरन और होटलवाले पण्डित राजाराम ने एक दिन गौर किया —विश्वनाथ को कई दिनों से नहीं देखा···

—चला गया होगा कहीं उसका क्या है? मुंशी कालीचरन ने ऐसे ही कह दिया।

सचमुच विश्वनाथ का कहीं भी क्या था? लेकिन हिंदी मंदिर पर ताला भी बंद नहीं था। यह देख के माथा ठनका। दरवाज़ा भीतर से बंद देखकर उन्हें खटका हुआ। दो-एक लोगों को बुलाकर उन्होंने दरवाज़ा खोलने की कोशिश की। दरवाज़ा कोई खास मजबूत भी नहीं था। दो-चार धक्कों में किवाड़ चूल से उतर आया।

कमरा भट्टी की तरह भभक रहा था। विश्वनाथ एक कोने में अविचल पड़ा था। उसके आस पास की धरती तक पसीने से भीगी हुई थी। उसके कपड़े तर थे। मुंह, गर्दन और हाथ-पैरों पर पसीना

यह पुस्तक आपको कैसी लगी ? इसके सम्बन्ध में अपने विचार भेजने के लिए आप आमंत्रित हैं। इसके अतिरिक्त भी सम्बन्धित विषयों पर हमारे यहां से स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। उनका सम्पूर्ण सूचीपत्र अलग-से उपलब्ध है। आप उसे मंगवा सकते हैं। कुछ चुनी हुई पुस्तकों के नाम नीचे दिए जा रहे हैं। साहित्य परिवार के सदस्य बनकर आप रियायती मूल्य पर फ्री डाक व्यय की सुविधा के साथ मनपसन्द पुस्तकें मंगवा सकते हैं।

उपन्यास

करवट : अमृतलाल नागर 60.00; अग्निगर्भा : अमृतलाल नागर 35.00; बिखरे तिनके : अमृतलाल नागर 30.00; खंजन नयन : अमृतलाल नागर 45.00; नाच्यौ बहुत गोपाल : अमृतलाल नागर 60.00; सेठ बांकेमल : अमृतलाल नागर 15.00; विवर्त : शिवानी 15.00; प्रोफेसर : रांगेय राघव 25.00; सोमनाथ : आचार्य चतुरसेन 60.00; वयं रक्षाम: : आचार्य चतुरसेन 60.00; वैशाली की नगरवधू : आचार्य चतुरसेन 65.00; बगुला के पंख : आचार्य चतुरसेन 40.00; उदयास्त : आचार्य चतुरसेन 35.00; धर्मपुत्र : आचार्य चतुरसेन 25.00; हृदय की प्यास : आचार्य चतुरसेन 20.00; सोना और खून : भाग-1 आचार्य चतुरसेन 50.00; सोना और खून : भाग-2 आचार्य चतुरसेन 50.00; सोना और खून : भाग-3 आचार्य चतुरसेन 50.00; सोना और खून: भाग-4 आचार्य चतुरसेन; अपने खिलौने : भगवतीचरण वर्मा 25.00; थके पांव : भगवतीचरण वर्मा 20.00; आखिरी दांव : भगवतीचरण वर्मा : 25.00; एक इंच मुस्कान : राजेन्द्र यादव:मन्नू भंडारी 40.00; टूटा दर्पण : कृष्ण भावुक 35.00; मृगतृष्णा : शान्ताकुमार 70.00; पीली धूप : सत्यप्रसाद पांडेय 35.00; काया स्पर्श : द्रोणवीर कोहली 30.00; आंगन कोठा : द्रोणवीर कोहली 25.00; गली अनारकली : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल 25.00; विजेता : वीरेन्द्रकुमार गुप्त 30.00; न आने वाला कल : मोहन राकेश 30.00; दूसरा भूतनाथ : डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय 60.00; पहला सूरज : डॉ० भगवतीशरण मिश्र 60.00; सूरज के आने तक : डॉ० भगवतीशरण मिश्र 25.00; मोतिया : रामकुमार 'भ्रमर' 20.00; नागपाश : रामकुमार 'भ्रमर' 30.00; मछली बाजार : राजेन्द्र अवस्थी